न्याय-प्रदीप ।

लेखक—

दरबारीलाल ।

न्यायप्रदीप ।

लेखक—

साहित्यरत्न दरबारीलाल न्यायतीर्थ ।
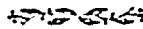
प्रकाशक—

साहित्यरत्नकार्यालय

जुबिलीबाग, तारदेव—बंबई.

ज्येष्ठ वि० १९८६ ।

जून १९२९ ।

प्रथमावृत्ति]

[मूल्य एक रुपया ।

प्रकाशक—साहित्यरत्न दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग,
तारदेव, बम्बई.

मुद्रक—वि. वा. परांजपे, नेटिव ओपिनीयन प्रेस, आंग्रेवाडी,
गिरगांव बॅकरोड, बम्बई नं० ४.

प्रस्तावना।

हिन्दी राष्ट्रभाषा है। राष्ट्रभाषाका साहित्य जैसा प्रौढ़ और विशाल होना चाहिये वैसा बनानेके लिये दस पन्द्रह वर्षसे कुछ अधिक उद्योग हो रहा है, लेकिन जिसे दार्शनिक साहित्यके लिये भारत विख्यात है वह, हिन्दीमें नहीं के बराबर है। विषयकी नीरसता, अधिक परिश्रम और कम विकनेसे, प्रकाशकों की अरुचि ही इसका कारण है; इसीसे हिन्दीसाहित्यसम्मेलनकी परीक्षाएँ भी संस्कृत पुस्तकोंके आधारपर देना पड़ती हैं। संस्कृत न जाननेवाले, न्याय और दर्शनके अध्ययनसे वञ्चित रहते हैं। जैन विद्यालयोंमें भी संस्कृतानभिज्ञोंके लिये प्रवेशिकासे आगे कोई स्थान नहीं हैं। इसी त्रुटिकी केञ्चित् पूर्तिके लिये लेखकका यह क्षुद्र प्रयास है।

गणित व्याकरण आदिके समान न्यायशास्त्र (Logic) में भी साम्प्रदायिकता नहीं होती, परन्तु भारतीय न्याय कुछ दार्शनिक (Philosophical) ढंगका है इसलिये कहीं कहीं पर कुछ साम्प्रदायिक मतभेद पाया जाता है। शुद्ध न्यायके विषयमें जो मतभेद है वह तो नाम मात्रका है। लेखकने विना किसी खंडनमंडनके इन मतभेदोंका उल्लेख किया है और उन सबमें समन्वय करनेकी चेष्टा भी की है। इसलिये यह पुस्तक जैनन्यायके ढंगपर लिखीजानेपर भी सर्वोपयोगी है। हां! पिछले तीन अध्याय, जैन न्यायके ही अंग हैं और चतुर्थ अध्याय गौतमीय न्यायका अंग है। परन्तु भारतीय न्यायशास्त्रके विद्यार्थीको उनका ज्ञान भी अवश्य होना चाहिये। नय निक्षेप और जाति आदिके भेदप्रभेदोंको पढ़कर पाठक अवश्य ही ऊब उठेंगे। लेखककी इच्छा इन विषयोंको बढ़ाकर लिखनेकी नहीं थी, परन्तु यह सोचकर कि जब प्राचीन लेखकोंने इस विषयको बढ़ाकर लिख दिया है तब प्रौढ़ विद्यार्थियोंको उसका जानना आवश्यक है, यह विषय जरा विस्तारसे लिखा गया है। अगर इस पुस्तकमें भारतीय न्यायका कुछ ऐतिहासिक विवेचन भी होता तो पुस्तककी उपयोगिता बढ़ जाती। परिस्थितियोंने और बालकी खाल निकालनेवाले तार्किकोंकी बुद्धिने किस विषयको कहां लापटका है यह बात पाठकोंको पसन्द आती। जैसे—प्रमाणके स्वतस्त्व और परतस्त्वकी चर्चा। ग्रन्थकारके प्रामाण्यसे ग्रन्थमें प्रामाण्य आता है लेकिन जो लोग (मीमांसक) वेदको अकर्तृक मानकर भी प्रमाण मानते थे उन्हें स्वतः प्रामाण्यवाद मानना पड़ा और उनके विरोधियोंको परतः प्रामाण्यवाद। धीरे-धीरे स्वतस्त्व परतस्त्वका प्रश्न सभी प्रमाणोंके पीछे लग गया। इसीप्रकार अन्य विषयोंमें भी विकास या परिवर्तन होता रहा है। कई कारणोंसे लेखकने इस विषयमें प्रायः मौनही रक्खा है।

शब्द	पृष्ठ

शब्द	पृष्ठ

न्यायप्रदीप ।

प्रथम अध्याय ।

न्याय ।

न्यायशास्त्र, वह शास्त्र है जिसके द्वारा हम पदार्थोंकी ठीक ठीक परीक्षा अथवा निर्णय करते हैं । जिसतरह भाषाको परिष्कृत करनेकेलिये व्याकरण शास्त्रकी आवश्यकता है, उसीतरह बुद्धिको परिष्कृत करनेकेलिये न्यायशास्त्रकी आवश्यकता है । यद्यपि सैकड़ों मनुष्य ऐसे हैं जो नियमानुसार व्याकरण शास्त्रका अध्ययन तो नहीं करते किन्तु शुद्ध बोललेते हैं, इसी तरह हजारों आदमी ऐसे भी हैं जो न्यायशास्त्रके अध्ययनके विना बुद्धिका उचित उपयोग करते हैं। इससे मालूम होता है कि मनुष्यके भीतर बोलने और विचारनेकी स्वाभाविक शक्ति है । समाजके संसर्गसे अभ्यासवश वह इनका उचित उपयोग करने लगता है; फिर भी शास्त्रोंके द्वारा संस्कार करनेकी आवश्यकता रहती ही है । हीरा तो खदानसे निकाला जाता है लेकिन उसे चमकदार बनानेकेलिये संस्कारकी आवश्यकता निश्चित है । न्यायशास्त्र, बुद्धिको संस्कृत करके अर्थसिद्धिके योग्य बना देता है ।

अर्थसिद्धिके तीन भेद किये जाते हैं–(१) किसी नयी वस्तुका निर्माण करना (२) इच्छित वस्तुका प्राप्त करना (३)

वस्तुका जानना । इनमें न्यायशास्त्रसे तीसरी अर्थसिद्धि[1]का ही साक्षात्सम्बन्ध है । यद्यपि जबतक तीसरी अर्थसिद्धि न होगी तब तक प्रारम्भकी दोनों सिद्धियाँ नहीं हो सकतीं, इसलिये तीनों सिद्धियोंके साथ न्यायशास्त्रका सम्बन्ध मानना अनुचित नहीं कहा जा सकता; फिर भी तीसरी अर्थसिद्धिही मुख्य है इसलिये इस प्रकरणमें इसीसे तात्पर्य है ।

वह अर्थसिद्धि, लक्षण और प्रमाणसे होती[2] है । प्रमाणका एक अंश नय है इसलिये प्रमाण और नयसे भी अर्थसिद्धि मानी[3] जाती है, अगर इसका जरा विस्तारसे विवेचन करना हो तो लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेपसे अर्थसिद्धि मानी जाती है । अगर और भी स्पष्ट विवेचन करना हो तो सप्तभंगी न्यायका भी पृथक् विवेचन किया जाता है । इस तरह न्यायशास्त्रका स्वरूप बहुत विस्तृत है । किन्तु यह सारा विवेचन प्रमाणकाही विस्तार है, इसलिये '**प्रमाणके द्वारा अर्थकी परीक्षा करना न्याय[4]**' कहा जाता है । इस पुस्तकमें लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप और सप्तभंगी द्वारा न्यायका विवेचन किया जायगा ।

लक्षण ।

जिस चिह्नके द्वारा किसी वस्तुकी ठीकठीक पहिचान कीजाती है, उसे 'लक्षण[5]' कहते हैं । जैसे—उष्णताके द्वारा

१ सिद्धिरसतः प्रादुर्भावोऽभिलषितप्राप्तिर्भावज्ञप्तिश्चोच्यते, इति प्रमेयकमलमार्तण्डे ।

२ " लक्षणप्रमाणाभ्यामर्थसिद्धिः " इति न्यायदर्शने ।

३ " प्रमाणनयैरधिगमः " इति तत्वार्थसूत्रे ।

४ प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।

५ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् । परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् ।

अग्निकी, चैतन्यके द्वारा जीवकी, रूपादिके द्वारा पुद्गलकी पहिचानकी जाती है। इसलिये उष्णता अग्निका, चैतन्य जीवका, रूपादि पुद्गलका लक्षण है। लक्षणका उपयोग हमें जीवनमें प्रतिक्षण करना पड़ता है। क्योंकि जबतक हम काममें लाने लायक वस्तुको अलग न पहिचानेंगे तबतक उसको काममें कैसे लासकेंगे? सैकडों मनुष्योंमेंसे हम अपने भाईको अलग पहिचानलेते हैं इसका कारण यह है कि हमें उसका लक्षण मालूम है। हां! बहुतसे लक्षण ऐसे होते हैं कि जिनका जानना तो सरल है परन्तु कहना, असंभव नहीं तो अतिकठिन जरूर है। जैसे—अगर हम दस हजार आदमियोंको जानते हैं तो उनको लक्षणों द्वारा अलग अलग पहिचानना कठिन नहीं है। किन्तु शब्दों द्वारा उनके लक्षणोंको अलग अलग कहना कठिन अवश्य है। खैर! हम कहसकें या न कहसकें, किन्तु प्रत्येक वस्तुके व्यवहारमें लक्षणका उपयोग करना ही पड़ता है।

जिस चिह्नके द्वारा हम किसी वस्तुको पहिचानते हैं वह चिह्न असाधारण अवश्य होना चाहिये। क्योंकि साधारण चिन्होंसे हम किसी वस्तुकी विशेषता नहीं जान सकते। अगर हमसे कोई पूछे, कि मनुष्य किसे कहते हैं और हम उत्तर देदें कि 'जिसके कान हों' तो यह लक्षण ठीक न होगा, क्योंकि कान तो पशुओंके भी पाये जाते हैं, इसलिये कानके अस्तित्वसे हम मनुष्यकी ठीक ठीक पहिचान नहीं कर सकते। हां! अगर मनुष्यको पहिचाननेके लिये ऐसे चिन्ह बताये जाँय जो किसी दूसरे प्राणी आदिमें न पाये जाते हों तो उससे मनुष्यकी पहिचान होसकेगी।

इस विवेचनसे यद्यपि असाधारणचिन्ह लक्षण ठहर गया,

तथापि सभी असाधारण चिन्होंको लक्षण न समझना चाहिये । क्योंकि असाधारण चिन्हसे दूसरी वस्तु (अलक्ष्य) अलग कर सकेत हैं, परन्तु जिसकी हमें पहिचान करना है उसे पूरे रूपमें नहीं पहिचान सकते । जैसे—पशुका लक्षण सींग किया । यहां सींगमें असाधारणता तो जरूर है, क्योंकि पशुको छोड़कर अन्य किसी प्राणीके सींग नहीं होता, किन्तु इस चिन्हके द्वारा हम सव पशुओंको अलग नहीं कर सकते । घोड़ा गधा आदि अनेक पशु ऐसे हैं जिनके सींग नहीं होता; इसलिये पशुका लक्षण सींग, असाधारण चिन्ह होने पर भी ठीक लक्षण नहीं है । असाधारण चिन्ह ऐसा होना चाहिये जो पूरे लक्ष्यको जुदा कर सके, तभी वह सच्चा लक्षण कहा जासकेगा ।

नोट—'**लक्ष्य' उसे कहते हैं जिसका लक्षण कहा जाय।** जिस चीज को हम पहिचानना चाहते हैं वही लक्ष्य है । जैसे—उष्णताके द्वारा हम अग्निको पहिचानना चाहते हैं तो अग्नि लक्ष्य है और उष्णता लक्षण है । चैतन्यके द्वारा जीवको पहिचानना चाहते हैं तो जीव लक्ष्य है, चैतन्य लक्षण है ।

लक्ष्यसे भिन्न पदार्थोंको 'अलक्ष्य' कहते हैं । जैसे—जीवका लक्षण करते समय, पृथ्वी, जल, अग्नि, काल, आकाश आदि सभी अलक्ष्य हैं ।

लक्षणभेद ।

लक्षण दो तरहके होते हैं । १ आत्मभूत २ अनात्मभूत । **जिन लक्षणोंका अस्तित्व, लक्ष्यके स्वरूपसे अलग नहीं होता है उन्हें 'आत्मभूत' लक्षण कहते हैं ।** जैसे—उष्णता—लक्षण,

अग्नि—लक्ष्य—में मिला हुआ है—अग्निसे उष्णता अलग नहीं की जा सकती—इसलिये यह आत्मभूत लक्षण है। इसीतरह जीवका चैतन्य, आदि लक्षण भी आत्मभूत हैं।

जो लक्षण, लक्ष्यके स्वरूपसे पृथक् रहता है उसे 'अनात्मभूत' लक्षण कहते हैं। जैसे—किसी शाही जुलूसमें छत्र चामर आदिको देखकर हम राजाकी पहिचान करें तो छत्र चामर आदि राजाके लक्षण कहे जा सकेंगे, लेकिन छत्र चामरोंका अस्तित्व राजासे जुदा है, इसलिये हम उन्हें अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। इसीतरह दण्डीका लक्षण दण्ड, धनीका लक्षण धन, आदि अनात्मभूत लक्षण समझना चाहिये।

लक्षणाभास।

जो चिह्न, लक्षणके रूपमें प्रयुक्त तो किया जाय, किन्तु निर्दोष रीतिसे लक्ष्यकी पहिचान न करा सके, उसे 'लक्षणाभास' कहते हैं। जैसे—गायका लक्षण सींग किया, तो यह लक्षणाभास कहलाया। क्योंकि—सींग लक्षणसे गायकी पहिचान नहीं हो सकती। सींग तो भैंस आदि अन्य जानवरोंके भी होते हैं, इसलिये ये भी गाय कहलाने लगेंगे।

लक्षणाभासके तीन भेद हैं (१) अव्याप्त (२) अतिव्याप्त (३) असम्भवि। जिसमें अव्याप्ति दोष हो उसे **अव्याप्त,** जिसमें अतिव्याप्ति दोष हो उसे **अतिव्याप्त,** और जिसमें असम्भव दोष हो उसे **असम्भवि** लक्षणाभास कहते हैं।

लक्षण रूपमें कहे गये धर्मका लक्ष्यके एक हिस्सेमें रहना 'अव्याप्ति' दोष है। जैसे—पशुका लक्षण सींग किया तो यहां

अव्याप्ति दोप रहा । क्योंकि यहां पर पशु लक्ष्य है, इसलिये लक्षण (सींग) को सब पशुओंमें रहना चाहिये; लेकिन घोड़ा गधा आदि पशुओंमें सींग नहीं हैं इससे यहां अव्याप्ति दोष और इस दोपसे यह लक्षण अव्याप्त लक्षणाभास मानाजाता है । इसी-तरह जीवका लक्षण मतिज्ञान, मनुष्यका लक्षण वस्त्र आदि भी अव्याप्त लक्षणाभास हैं, क्योंकि सिद्ध (मुक्त) जीवोंमें मति-ज्ञान नहीं होता । अनेक बच्चे, साधु, तथा असभ्य जातियाँ वस्त्र नहीं पहिनतीं, यद्यपि वे मनुष्य हैं ।

लक्षणका, लक्ष्य और अलक्ष्य—दोनों—में रहना 'अति-व्याप्ति' दोष है । जैसे—लक्षणका लक्षण किया जाय 'असाधारण धर्म' यहां अतिव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि बहुतसे असाधारण धर्म ऐसे हैं जो लक्षण नहीं, किन्तु अव्याप्त लक्षणाभास कहे जाते हैं । हम पहिले कह चुके हैं कि बहुतसे असाधारण धर्म ऐसे हैं जो लक्ष्य के एकही हिस्सेमें रहते हैं । (लक्षणका लक्षण कहते समय लक्षणही लक्ष्य बन जाता है) लक्षणका लक्षण तो ऐसा होना चाहिये जो लक्षणमें ही रहे लक्षणाभासमें न रहे । जो लक्षणका लक्षण, लक्षणाभासमें भी चला जाता है वह अतिव्याप्त लक्षणाभास है । जैसे—पशुओंका लक्षण सींग किया, यहां सींग (सींगवालापन) पशुओंका असाधारण धर्म तो है लेकिन अव्याप्ति दोषवाला होनेसे लक्षण नहीं है; जो लक्षण नहीं है उसमें अगर लक्षणका लक्षण चला जाय तो अतिव्याप्ति दोप होगा । हां ! अगर "अव्याप्तिदोपरहित (लक्ष्यव्याप्त) असाधारण धर्म" लक्षणका लक्षण किया जाय तो कुछ दोप नहीं है ।

इसी तरह गायका लक्षण सींग, मनुष्यका लक्षण पंचेन्द्रियत्व आदि भी अतिव्याप्ति लक्षणाभासके उदाहरण समझना चाहिये ।

अव्याप्त लक्षणाभास तो लक्ष्यके भीतर ही रहता है और अतिव्याप्त लक्षणाभास भीतर और बाहर—दोनों जगह—रहता है ।

लक्षणरूपमें कहेगये धर्मका, लक्ष्यमें बिलकुल न रहना 'असम्भव' दोष है । जैसे गधेका लक्षण सींग । सींग किसी भी गधेमें नहीं होता, इसलिये यहां असम्भव दोष है और यह दोषवाला लक्षण, असम्भवि लक्षणाभास कहलाता है । इसीतरह जीवका लक्षण अचेतनत्व और पुद्गल (पृथ्वी आदि) का लक्षण चेतनत्व आदि भी असम्भवि लक्षणाभास हैं ।

कुछ लक्षणाभास ऐसे भी होते हैं, जिनमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति—दोनों—ही दोष पाये जाते हैं । जैसे—विद्वान उसे कहते हैं जो अंग्रेजी अथवा संस्कृत जानता हो । परन्तु बहुतसे विद्वान ऐसे हैं जो अंग्रेजी और संस्कृत दोनों नहीं जानते फिर भी वे विद्वान् हैं; इसलिये अव्याप्ति दोष है । तथा बहुतसे मूर्ख भी संगति आदिसे या मातृभाषा होनेसे अंग्रेजी या संस्कृत बोलने लगते हैं लेकिन वे विद्वान नहीं होते, इसलिये यहां अतिव्याप्ति दोष भी है । प्राचीन ग्रन्थकारोंने ऐसे मिश्रलक्षणाभासोंका अलग उल्लेख नहीं किया है । क्योंकि लक्षणाभासके द्वारा लक्षणके दोष ही कहे जाते हैं । हेत्वाभासमें भी एक जगह अनेक दोष होते हैं, परन्तु मिश्रहेत्वाभासोंका नाम अलग नहीं रक्खाजाता; क्योंकि इससे व्यर्थका विस्तार होता है । यही बात लक्षणाभासके विषयमें भी समझना चाहिये । इसीलिये लक्षणाभासके तीन ही भेद किये गये हैं ।

द्वितीय अध्याय ।

प्रमाण ।

जिसके द्वारा वस्तु, सच्चेरूपमें जानी जाय उसे 'प्रमाण'[1] कहते हैं ।

वस्तुके जानने का काम आत्मामें रहनेवाले ज्ञान गुणका है, इसलिये प्रमाण शब्दसे ज्ञान ही कहा जाता है । इसीलिये किसी किसीने प्रमाण का लक्षण[2] सम्यग्ज्ञान किया है । व्यवहारमें ज्ञानके अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी प्रमाण समझे जाते हैं । जैसे—"आपने रुपये लिये हैं इसकेलिये अमुक आदमी प्रमाण है अथवा आपका पत्र प्रमाण है" यहां आदमी या पत्रको प्रमाण कहनेका प्रयोजन यह है कि इनके द्वारा सत्य बात जानी जाती है । यद्यपि जाननेका कारण ज्ञान ही है, लेकिन ज्ञानका निमित्त कारण आदमी या पत्र है इसलिये उपचार[3]से इन्हें भी प्रमाण कहसकते हैं । इसीलिये किसी किसीने इंद्रिय और अर्थका सन्निकर्ष, अथवा इन्द्रियोंका व्यापार प्रमाण माना है । परन्तु इसे मुख्यप्रमाण न समझना चाहिये । क्योंकि ये तो मुख्यप्रमाणके कारण हैं, स्वयं मुख्यप्रमाण नहीं हैं । मुख्यप्रमाण वही है जो पदार्थके जाननेमें

---

१ प्रकर्षेण=संशयादिव्यवच्छेदेन, मीयते=परिच्छिद्यते=ज्ञायते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् ।

२ सम्यग्ज्ञानम्प्रमाणम् । न्यायदीपिका ।

३ मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते=मुख्यके अभावमें कोई प्रयोजन या निमित्त मिलने पर उपचारकी प्रवृत्ति होती है ।

अंतिम कारण हो । उपर्युक्त इन्द्रियादिक अंतिम कारण नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियादिक जड़ हैं, इनका व्यापार होने पर भी अगर ज्ञान का व्यापार न हो तो हम पदार्थको नहीं जान सकते । जब इन्द्रिय-व्यापारके बाद ज्ञान पैदा होता है, तब वही अंतिम कहलाया, इन्द्रियव्यापार नहीं, इसलिये इन्द्रियव्यापार आदि को गौण या उपचरित प्रमाण मानना चाहिये । वास्तविक प्रमाण सम्यग्ज्ञान ही है ।

प्रश्न—यदि पदार्थोंको जाननेमें प्रमाण कारण है, तो प्रमाणको जाननेमें कारण क्या है ?

उत्तर—प्रमाण, पदार्थोंको भी जानता है और अपनेको भी जानता है । जिसप्रकार दीपक, पदार्थोंको प्रकाशित करने के साथही अपनेको भी प्रकाशित करता है, अर्थात् दीपकको देखने के लिये दूसरे दीपककी जरूरत नहीं पड़ती, उसीप्रकार प्रमाणको जानने केलिये दूसरे प्रमाण की जरूरत नहीं पड़ती, इसीलिये प्रमाण, स्वपरिच्छेदक या स्वव्यवसायात्मक कहा गया है ।

प्रश्न—क्या सभी तरह के ज्ञान स्वपरिच्छेदक या स्वव्यवसायात्मक हैं ? या सिर्फ सम्यग्ज्ञान ही ?

उत्तर—सभी तरह के ज्ञान स्वपरिच्छेदक[1] होते हैं, और इस स्वपरिच्छेदकी दृष्टिसे कोई ज्ञान अप्रमाण या मिथ्याज्ञान नहीं होता । ज्ञानमें सच्चापन या झूठापन विषय के सच्चेपन या झूठेपन पर निर्भर है । जैसे—सांपमें रस्सीका ज्ञान मिथ्याज्ञान है, क्योंकि

---

१ भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः, बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते, इति देवागमे । 'ज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ये अपि बहिरर्थापेक्षयैव न स्वरूपापेक्षया' इति लघीयस्त्रयटीकायाम् ।

इसका विषय 'रस्सी' मिथ्या है। अगर हम इस ज्ञानके आधार पर रस्सी लेनेजावेंगे तो हमें रस्सीके वदले सांप मिलेगा। यहां पर रस्सीका अस्तित्व तो मिथ्या है परन्तु ज्ञानका अस्तित्व मिथ्या नहीं है, इसलिये यह मिथ्याज्ञान होनेपर भी स्वपरिच्छेदक है और इसका यह स्वपरिच्छेद सच्चा है।

प्रश्न—क्या मिथ्याज्ञानका स्वपरिच्छेद भी सच्चा कहा जा सकता है? फिर वह मिथ्याज्ञान कैसे कहलाया?

उत्तर—हम कह चुके हैं कि ज्ञान, विषयकी अपेक्षासे मिथ्या वनता है नकि स्वरूपको जाननेकी अपेक्षासे। संशयज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि इससे पदार्थका ठीक ठीक पता नहीं लगता, लेकिन हमें जो संशयका अनुभव होता है वह तो प्रमाण है, क्योंकि संशयका अनुभव मिथ्या नहीं हो रहा है।

प्रश्न—जानेहुए पदार्थको फिरसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है या नहीं?

उत्तर—जानेहुए पदार्थको फिरसे जाननेमें कुछ न कुछ विशेषता या न्यूनाधिकता हो जाती है इसीलिये वह ज्ञान निरर्थक नहीं कहलाता। फिरभी जव उसकी विशेषता हमारी नजरमें नहीं आती और न उस विशेषताका कुछ फल[1] ही नजरमें आता है, तव वह ज्ञान निरर्थक होनेसे प्रमाण नहीं माना जाता।

---

१ विद्यार्थी जव एकही पाठको अनेकवार याद करते हैं तव उस ज्ञान की विशेषता भले ही न मालूम पड़े परन्तु उस विशेषताका फल धारणाकी प्रवलता तो मालूम पड़ती ही है.

ऐसे ज्ञानको धारावाहिकज्ञान[1] कहते हैं।

प्रश्न—जब प्रमाणको आपने ज्ञानस्वरूप माना है तब ज्ञान और प्रमाणमें कुछ अन्तर है या नहीं?

---

१ धारावाहिक ज्ञानको अप्रमाण माननेमें अनेक शंकाएँ हैं। निरर्थक होनेसे यह अप्रमाण बताया जाता है, किन्तु यह निरर्थक नहीं है। पहिले समयका ज्ञान, पहिले समयके अज्ञानको दूर करता है और दूसरे समयका ज्ञान, दूसरे समयके अज्ञानको दूरकरता है; ऐसी हालतमें पहिले समयका ज्ञान प्रमाण माना जाय और दूसरे समयका प्रमाण न माना जाय यह ठीक नहीं जचता। जैनन्यायमें प्रमाणके साथ प्रमिति का होना अनिवार्य है, क्योंकि प्रमाण करण है। इसीप्रकार ज्ञानके साथ ज्ञप्तिका होनाभी अनिवार्य है क्योंकि ज्ञान करण है। प्रमिति पैदा न हो तो प्रमाणकी सत्ता नहीं मानी जा सकती इसीप्रकार ज्ञप्ति पैदा न हो तो ज्ञानकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। धारावाहिकज्ञानसे यदि ज्ञप्ति पैदा नहीं होती तो वह ज्ञानही नहीं कहला सकता। यदि ज्ञप्ति पैदा होती है तो ज्ञप्ति ही तो अज्ञाननिवृत्ति है फिर धारावाहिकज्ञान निरर्थक कैसे? इसतरह धारावाहिक ज्ञानकी विषयविशेषता हमारी नजरमें न आनेपर भी वह अप्रमाण नहीं ठहर सकता। हेमचन्द्रने इसे प्रमाण माना है। माणिक्यनंदि और पीछेके जैन नैयायिकोंने इसे अप्रमाण माना है। माणिक्यनंदिका 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं' यह सूत्र अकलंकदेवकी निम्नलिखित कारिकाके आधारपर बना है। "व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतं। ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते" माणिक्यनंदिके सूत्रमें प्रमाणको अपूर्वार्थग्राही मानकर धारावाहिक ज्ञानको अप्रमाण माना है, लेकिन अकलंक देवने प्रमाणके लक्षणमें अपूर्वार्थ-ग्राही विशेषण नहीं दिया है और न पहिलेके किसी जैनाचार्यने इसका उल्लेख किया है। विद्यानन्दि तो लिखते हैं—तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वाद्व्यर्थमन्यद्विशेषणम्। १।१०।७७।-

उत्तर—ज्ञान, सच्चा भी होता है और झूठा भी होता है। सच्चाज्ञान प्रमाण कहलाता है झूठाज्ञान नहीं । इसलिये ज्ञान व्यापक (अधिक देशमें रहनेवाला) है और प्रमाण व्याप्य (अल्पदेशमें रहनेवाला) है । इन दोनोंमें व्याप्यव्यापकसम्बन्ध मानना चाहिये । इसीतरहका व्याप्यव्यापकसम्बन्ध ज्ञप्ति और प्रमितिमें, ज्ञेय और प्रमेयमें, ज्ञाता और प्रमातामें भी है। ज्ञप्ति ज्ञेय और ज्ञाता, सम्यक् और मिथ्या दोनों तरहके होते हैं इसलिये व्यापक हैं। प्रमिति प्रमेय और प्रमाता सच्चे ही होते हैं इसलिये व्याप्य हैं।

यहां प्रमिति प्रमाता और प्रमेयका भी स्वरूप समझ लेना चाहिये । प्रमाणके द्वारा जो क्रिया (जानना) होती है उसे **प्रमिति**[1] अथवा प्रमा कहते हैं। प्रमाणके द्वारा जो पदार्थ जाना

गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति, तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्। १।१०।७८। श्लो. वा.। अर्थात् "वास्तविक अर्थ जानने वाला ज्ञान प्रमाण है । प्रमाणके लक्षणमें अन्य विशेषण डालने की जरूरत नहीं है। चाहे गृहीत हो या अगृहीत जो अपने अर्थको जानता है वह प्रमाण है।" इन सब बातोंपर विद्वानोंको विचार करना चाहिये।

१ प्रमिति, प्रमाणके द्वारा पैदा होती है, इसलिये प्रमाणका साक्षात्फल प्रमिति ही है। इसीको अज्ञाननिवृत्ति भी कहते हैं । इसकेबाद प्रमाणका फल, हानबुद्धि (त्याग=द्वेष) उपादानबुद्धि (ग्रहण=राग) उपेक्षाबुद्धि (राग और द्वेष दोनोंका न होना) भी माने जाते हैं (अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्)। इन फलोंको देखनेसे मालूम होता है कि ये आत्मासे भिन्न नहीं हैं। इसलिये प्रमाणका फल अभिन्न माना जाता है। लेकिन यदि बिलकुल अभिन्नभाव मानलें तो प्रमाण और प्रमाणफलके जुदेजुदे नाम और जुदेजुदे लक्षण ही न बन सकेंगे, इसलिये इस अपेक्षासे भेद भी माना जाता है। (प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च)

जाता है उसे प्रमेय[1] कहते हैं। प्रमाणका आधार अथवा कर्ता (जाननेवाला व्यक्ति) **प्रमाता** कहलाता है।

प्रश्न—प्रमाणमें सचाई क्या है? और वह अपने आप आती है या उसकेलिये किसी अन्य कारणकी जरूरत पड़ती है?

उत्तर—प्रमाणके द्वारा जो चीज जिसतरह होती है वह उसी तरह जानी जाती है, यही प्रमाणकी सचाई[2] (प्रामाण्य) है। इस सचाई के लिये कुछ विशेष गुणोंकी जरूरत पड़ती है। जब प्रमाणमें ज्ञानसे कुछ विशेषता है तब ज्ञानके कारणोंसे प्रमाणके कारणोंमें भी कुछ विशेषता होगी। विशेषता सिर्फ प्रमाणमें ही नहीं है किन्तु अप्रमाणमें भी है। ज्ञान एक सामान्य चीज है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ये उसकी दो विशेष हालतें हैं; इन दोनों विशेष हालतोंके लिये विशेषकारणों की जरूरत है। लकडी

---

१ जैन दर्शनमें प्रमेय—प्रमाणका विषय—सामान्य विशेषात्मक माना गया है। (सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः) क्योंकि वस्तु भी सामान्यविशेषात्मक है। जैसे—प्रत्येक मनुष्य खास खास गुणों या आकार को रखता है, उसीतरहसे उसमें कुछ ऐसी समानता भी है जिससे सभी मनुष्य एक मनुष्यजातिके भीतर शामिल होते हैं। जब हम किसी मनुष्यको देखेंगे तो उसकी खासियत और समानता दोनोंको विषय करेंगे। खासियतको छोड़कर समानता, या समानताको छोड़कर खासियतको विषय नहीं कर सकते। अगर हम किसी मनुष्यके एक एक धर्म के ऊपर विचार करना शुरु करदेंगे तो वह ज्ञान 'नय' कहलाने लगेगा (सकलादेशो प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीनः) नयका विवेचन आगे किया जायगा।

२ प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वम् प्रमाणस्य प्रामाण्यं।

से आप टेबुल वनायें तो विशेपकारणोंकी जरूरत है और कुर्सी वनायें तो विशेषकारणोंकी जरूरत है। इसतरह जितनी अच्छी या बुरी चीजें वनायें उनमें विशेषकारणोंकी जरूरत होगी। विशेष कारणोंकी अपेक्षा होनेसे ही प्रमाणकी उत्पत्ति परतः मानी जाती है। ज्ञान की सामान्य सामग्रीसे कुछ अधिक सामग्री का लगना प्रमाणका **परतस्त्व** है और अधिक सामग्री न लगकर सामान्य सामग्रीसे ही उत्पत्ति हो जाना **स्वतस्त्व**[1] है। उपर्युक्त कारणोंसे जैन दार्शनिक विद्वान्, प्रमाण या अप्रमाणकी उत्पत्ति स्वतः नहीं मानते।

प्रश्न—प्रमाण की ज्ञप्ति कैसे होती है? अर्थात् यह कैसे मालूम होता है कि हमें जो ज्ञान हुआ है वह सच्चा है?

उत्तर—कई प्रमाण तो इतने स्पष्ट होते हैं कि उनकी प्रमाणता जाननेके लिये हमें विशेष साधनोंकी जरूरत नहीं होती। प्रमाणकी स्पष्टता आदि ही प्रमाणकी सचाई वतादेती है। जिन चीजोंका आप सदा उपयोग किया करते हैं उनकी सचाई आपहीसे (स्वयं) मालूम हो जाती है। जैसे आपके घरके पासमें नदी तालाव आदि हो और उसका हमेशा उपयोग किया जाता हो तो वहां आपको पानीके सद्भावमें सन्देह न होगा जिससे कि किसी दूसरेसे पूछना पड़े या दूसरे चिह्नोंसे निश्चय करना पड़े। अथवा जिससमय आप मिठाई खारहे हों उससमय उसके मीठेपनके ज्ञान की सचाई जाननेके लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि यह ज्ञान इतना विशद (स्पष्ट=साफ़) है कि अपनी सचाई अपने

---

१ प्रामाण्यस्य स्वत उत्पत्तिरिति ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रजन्यत्वम्।

आप बतला देता है। ऐसी हालतोंमें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः मानी जाती है, क्योंकि उसकी सचाई जाननेके लिये विशेष कारणोंकी आवश्यकता नहीं होती। जहां विशेष कारणोंकी आवश्यकता होती है वहां प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः मानी जाती है। जैसे—किसी अपरिचित स्थानमें दूरसे पानी दिखनेपर यह सन्देह होसकता है कि वहां पानी है अथवा काँस फूला हुआ है? इतनेमें यदि उस तरफ़से कोई पानीका घड़ा लेकर आता हो अथवा वहीं रहनेवाले किसी आदमीसे पूंछलिया जाय तो अपने ज्ञानकी सचाई मालूम हो जाती है। लेकिन इस सचाई की ज्ञप्ति दूसरेकी सहायतासे मालूम हुई है इसलिये यहांपर प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः मानी जाती है। अगर सब जगह प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः मानी जाय तो उसका होना ही असंभव हो जायगा। जैसे—उपर्युक्त दृष्टान्तमें हमें पानीके ज्ञानकी सचाई, पानीके घड़ेवाले किसी आदमीको देखकर हुई थी, अब यदि उस आदमीके ज्ञानकी सचाईके लिये तीसरे ज्ञानकी आवश्यकता मानी जाय तो तीसरे ज्ञानकी सचाईके लिये चौथे ज्ञानकी आवश्यकता मानना पड़ेगी। इस तरह चौथेके लिये पांचवें की, पांचवें आदिके लिये छठवें आदि की आवश्यकता होगी, अन्तमें किसी न किसी ज्ञानकी सचाई स्वतः स्वीकार करना पड़ेगी, अन्यथा अनवस्था[2] दोष होनेसे हमें पानीका भी ज्ञान न हो सकेगा। इससे

---

१ ज्ञप्तिः अभ्यस्ते विषये स्वतः अनभ्यस्ते तु परतः। परिचितस्वग्रामतटाकजलादिरभ्यस्तः, तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः।

२ अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था। जहांपर अप्रामाणिक अनन्तपदार्थोंकी कल्पना करना पड़े वहां अनवस्था दोष होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरणमें तीसरे चौथे पांचवें आदि ज्ञानोंकी

इस बातकाभी निश्चय हो जाता है कि जहांपर परतः ज्ञप्ति मानी जाती है वहांपर पहिले प्रमाणके प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः है, लेकिन जिन प्रमाणोंसे हम पहिले प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय करते हैं उनको परतः होनेकी जरूरत नहीं है, अन्यथा उपर्युक्त रीतिसे अनवस्था होजावेगी।

इस विवेचनसे मालूम होजाताहै कि **वास्तविक प्रमाण स्वपर प्रकाशक, अज्ञानको नष्ट करनेमें साक्षात् या अंतिम कारण, उत्पत्तिमें परतः और ज्ञप्तिमें कहीं स्वतः कहीं परतः है।**

प्रमाणके भेद ।

यों तो प्रमाणके अनेक भेद माने जाते हैं। कोई एक, कोई दो, कोई तीन, चार, पांच, छः, सात अथवा आठ तक मानते हैं। किन्तु मूल भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

जिस प्रमाणके द्वारा पदार्थका निर्मल (स्पष्ट) प्रतिभास होता है उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। जैसे—आखोंके द्वारा किसी आदमीको देखकरके जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसा किसीके कहनेसे या चित्र वगैरहके द्वारा नहीं होता। किसीके कहनेसे हम यह तो जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति अच्छा गाता

कल्पना करना पड़ी है। इन ज्ञानों का अस्तित्व नहीं है इसलिये ये अप्रामाणिक हैं। अगर ऐसी कल्पना करते ही जावें तो विश्राम भी न मिलेगा, इसलिये यहां अनवस्था दोष है। हां! विश्राम न मिलने पर भी अगर प्रामाणिक कल्पना हो तो यह दोष नहीं होता। जैसे अमुक आदमी अपने माबापसे पैदा हुआ है और वे माबाप और पहिलेके माबापसे, इसतरह माबापकी कल्पनामें विश्राम नहीं मिलेगा, फिर भी माबापकी कल्पना झूठी नहीं है इसलिये यहां अनवस्था दोष नहीं माना जाता है।

है, लेकिन उसके गायनका ठीक ठीक ज्ञान हमें तभी होगा जब हम उसके गायनका श्रावणप्रत्यक्ष करलेंगे अर्थात् कानोंसे सुनलेंगे। इसतरह हर एक इन्द्रियसे, मनसे, और केवल आत्मासे प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्षकी दूसरी पहिचान यह भी है कि इसे किसी दूसेर ज्ञानके सहारे की जरूरत नहीं रहती, जिसप्रकार कि परोक्षको रहती हैं। जैसे–धुआँको देखकर आपने अग्निका ज्ञान किया, यहां धुआँका तो प्रत्यक्ष है और अग्निका अनुमान (परोक्ष) है; क्योंकि धुआँके जाननेके लिये हमें पहिले किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु अग्निका अनुमान, धुआँके जाने विना नहीं हो सकता। वीचमें किसी ज्ञानके आजानेसे विशदता नष्ट हो जाती है इसलिये ऐसे ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कहते।

प्रत्यक्षके दो भेद हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। **जो प्रमाण, वास्तवमें प्रत्यक्ष (स्पष्ट) तो नहीं है किन्तु अन्य ज्ञानों की अपेक्षा, कुछ स्पष्ट होनेसे लोकव्यवहारमें प्रत्यक्ष माना जाता है, उसे ‘ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ’** कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, वास्तवमें परोक्ष ही है। ऊपर जो इन्द्रियप्रत्यक्षके उदाहरण दिये हैं, वे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि इन्द्रियोंके द्वारा हमें जो ज्ञान होता है, वह अनुमानादिज्ञानों की अपेक्षा निर्मल जरूर है; परन्तु पूरी निर्मलता उसमें भी नहीं पायी जाती, इसीलिये उसे पारमार्थिकप्रत्यक्ष नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ–स्पर्शन इन्द्रियको लीजिये! इस इन्द्रियके द्वारा शीत उष्ण आदि स्पर्शोंका ज्ञान किया जाता है किन्तु इसके द्वारा पदार्थोंकी ठीक ठीक शीतलता या उष्णताको जानना असंभव है। जो पदार्थ या वायुमण्डल, यन्त्रों (थर्मामीटर) के

द्वारा अस्सी या नव्वे डिग्री गरम माना जाता है, वह हमें ठंडा माल्म होता है और जो पदार्थ, सौ डिग्री गरम रहता है वह हमें सिर्फ दो या डेड़ डिग्री गर्म माल्म होता हैं। जिस ज्ञानमें इतनी गड़वड़ी है उसे हम प्रत्यक्ष कैसे कह सकते है? इस गड़वड़ीका स्पष्ट कारण यह है कि हमारे शरीरमें ९८ या ९८॥ डिग्री गर्मी सदा रहती है इसलिये हमारी स्पर्शनइन्द्रियरूप तराजूमें इतनी डिग्रियों का पासंग सदा रहता है; जोकि हमें स्पर्शका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होने देता। यही हालत रसना इन्द्रियकी है। जो चीज एक व्यक्तिके लिये अन्त्यन्त तीखी माल्म होती है वही दूसरेके लिये कम तीखी माल्म होती है। अगर सभी मनुष्य और पशुपक्षियोंके अनुभवोंपर विचार किया जाय तो सबमें कुछ न कुछ विशेषता होगी। उनमेंसे कौनसा अनुभव निर्मल है यह वात कौन वतला सकता है? हां! विचारने पर इतना अवश्य मालूम होता है कि उनमेंसे कोई भी अनुभव पूर्ण निर्मल नहीं है, क्योंकि रसनेन्द्रियके परमाणुओंका प्रभाव सभीको विकृत कर देता है। यही कारण है कि मनुष्यको एक ही वस्तुका स्वाद, सदा एकसा नहीं मालूम होता। नीरोग अवस्थामें जो स्वाद मालूम होता है वही पित्तज्वरकी हालतमें नहीं मालूम होता; हर्र खानेके वाद पानीका स्वाद अधिक मीठा मालूम होने लगता हैं। यदि यह कहा जाय कि यह तो हर्रके परमाणुओंका प्रभाव है तो यह भी कहा जा सकता है—और यह कहना विलकुल ठीक है—कि जिन परमाणुओंसे रसनेन्द्रियकी रचना हुई है उनके रसका प्रभाव भी पड़ता है। रसनेन्द्रियके परमाणु नीरस नहीं हो सकते, इसलिये उनके द्वारा किसी वस्तुके शुद्ध स्वादका पता नहीं लग सकता। जो वात रसनेन्द्रियके विषयमें

कही गई है वही बात घ्राणेन्द्रियके विषयमें भी कही जा सकती है ।
क्योंकि उसकी रचना भी जिन परमाणुओंसे हुई है उनमें गन्ध
अवश्य है जिसका प्रभाव भी अवश्य पड़ता है । यही कारण है कि
किसी मनुष्यको कोई पदार्थ सुगन्धित मालूम होता है और वही, किसी
दूसरे को दुर्गंधित मालूम होता है। तात्पर्य यह है कि गन्धके विषयमें
भी पृथक् पृथक् व्यक्तियोंके अनुभव पृथक् पृथक् होते हैं और उनमें
से कोई भी अनुभव पूर्ण निर्मल नहीं कहा जा सकता । चक्षु-
रिन्द्रियके अनुभवोंकी गल्तियाँ तो बिलकुल स्पष्ट हैं । जिस सूर्य
चंद्रको हम थालीके बराबर और पहाड़की चोटीके कुछ ऊपर
देखते हैं वह बहुत बड़ा तथा बहुत दूर है । हमारे देखनेमें निक-
टता और दूरीका प्रभाव अवश्य पड़ता है । पदार्थ जितना पास हो,
उतना ही बड़ा दिखता है । लेकिन आंखसे लगा लेने पर उसका
दिखना ही बन्द हो जाता है, अगर आंखसे लगालेने पर भी
कदाचित् पदार्थका दिखना बन्द न होता तो हम उतनाही दृश्य
देखपाते जितनी बड़ी हमारी आंख है। ऐसा देखना एक तरहसे
निरर्थक ही है । यह तो आकारकी बात हुई; अब रंगकी बातपर
विचार कीजिये ! सूर्यके प्रकाशमें जो वस्तु जिस रंगकी दिखती है,
चन्द्र, बिजली आदिके प्रकाशमें उसी रंगकी नहीं दिखती । इससे
मालूम होता है कि प्रकाशके प्रभावसे हमारा रूपदर्शन विकृत अवश्य
होजाता है । जब प्रकाशादिके बिना रूप जाना नहीं जा सकता
तब नेत्रसे रूपका निर्मल प्रतिभास होना असम्भव है ॥ इसी-
तरह कर्णके द्वारा भी शब्दके वास्तविक स्वरूपका प्रतिभास नहीं
हो सकता । उसपर भी निकटता, दूरीपन, तथा कर्णेन्द्रियकी ग्रहण
शक्तिका प्रभाव पड़ता है । मतलब यह कि जानना आत्माका काम

है । अगर आत्मा और अर्थ (विषय) का साक्षात्सम्बन्ध होकर ज्ञान हो तो ठीक ठीक हो सकता है । अगर वह प्रतिभास, इन्द्रियोंके द्वारा बाह्यपरिस्थितिसे प्रभावित होकर आत्मामें पहुँचेगा तो वह कभी निर्मल नहीं रह सकता । इसलिये इन्द्रियज्ञानको वास्तविक प्रत्यक्ष न कहकर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिये ।

इन्द्रियादिकों की सहायताके विना जो ज्ञान, केवल आत्मासे होता है उसे 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहते हैं । हम लोगोंको पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं है इसलिये इसका अनुभूत उदाहरण नहीं दिया जा सकता । हां ! इतना कहा जा सकता है कि प्रत्येक ज्ञान, स्वरूपसे प्रत्यक्ष है और यही स्वानुभव, पारमार्थिक प्रत्यक्षका उदाहरण कहा जा सकता है, क्योंकि पदार्थोंको जाननेके लिये आत्माको इन्द्रियादिकोंकी सहायता लेना पड़ती है लेकिन अपने ज्ञानको जाननेके लिये इन्द्रियोंकी सहायता नहीं लेना पड़ती, जिससे स्वानुभव विकृत कहा जा सके । ज्ञानके प्रत्यक्ष परोक्ष भेद, परप्रकाशकता की दृष्टिसे किये जाते हैं । पर–प्रकाशकता की दृष्टिसे पारमार्थिक प्रत्यक्षका उल्लेख प्राचीन दार्शनिकों ने किया है । जैनियोंने इसके तीन भेद माने हैं अवधि, मनः–

---

१ ज्ञानस्य बाह्यार्थापेक्षयैव वैशद्यावैशद्ये देवैः प्रणीते । स्वरूपापेक्षया सकलमपि ज्ञानं विशदमेव, स्वसंवेदने ज्ञानान्तराव्यवधानात् । इति लघीयस्त्रयटीकायाम् ।

२ आचार्य उमास्वामीने 'आद्ये परोक्षम्' 'प्रत्यक्षमन्यत्' सूत्रोंके द्वारा मति श्रुतको परोक्ष और अवधि मनःपर्यय केवल को प्रत्यक्ष कहा है । ये विभाग परप्रकाशकता की अपेक्षासे किये गये हैं ।

३ इन्द्रियादिकों की सहायता के विना, द्रव्य क्षेत्र काल भावकी

पर्यय और केवलज्ञान । दूसरे लोगोंने भी 'योगज प्रत्यक्ष' नामसे इसका उल्लेख किया है ।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके चार भेद हैं । अवग्रह, ईहा, अवाय (अपाय) धारणा । इन्द्रियादिकोंके द्वारा जो सबसे पहिले पदार्थका ज्ञान होता है उसे **अवग्रह** कहते हैं; जैसे—दूरसे किसी लम्बी चीजका ज्ञान होना । अवग्रहसे जाने हुए पदार्थमें विशेष आकांक्षारूप ज्ञान **ईहा** है जैसे—वह लम्बा लम्बा पदार्थ मनुष्य होना चाहिये । संशयज्ञानसे ईहामें वहुत अन्तर है । ईहा होनेसे संशय नष्ट हो जाता है । संशयमें दोनों ओर झुकाव रहता है । जैसे—वह मनुष्य है या ठूँठ । लेकिन ईहामें दोनों ओर को झुकाव नहीं रहता । मनुष्य होना चाहिये इस ज्ञानमें ठूंठका पताही नहीं है । ईहासे जाने हुए पदार्थका पूर्ण निश्चय होजाना **अवाय** अथवा अपाय है ।

मर्यादापूर्वक, रूपी पदार्थोंको स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान, अवधिज्ञान है । इन्द्रियादिकी सहायताके विना दूसरेके मनकी वातको स्पष्ट जानने वाला ज्ञान, मनःपर्यय कहलाता है । सर्वद्रव्यपर्यायोंको विषय करनेवाला ज्ञान, केवलज्ञान कहलाता है । केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है और अवधि मनःपर्यय देशप्रत्यक्ष हैं । इसका वह मतलब नहीं है कि इनमें निर्मलता कम है । निर्मलता तो सबमें एकसी है परन्तु अवधि मनःपर्यय ज्ञान सब द्रव्यों और सब पर्यायोंको नहीं जानते इसलिये देशप्रत्यक्ष कहलाते हैं ।

१ दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित तत्वार्थसूत्रमें 'अवाय' पाठ है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अपाय । भट्टाकलंकदेवने दोनों पाठोंको निर्दोष वतलाया है 'किमयमवाय उतापाय इत्युभयथा न दोषोऽन्यतर वचनेऽन्यतरस्य अर्थगृहीतत्वात्' अर्थात् अवाय और अपाय दोनोंही पाठ ठीक हैं क्योंकि इस ज्ञानमें एक कोटीका अवाय (ग्रहण) और दूसरी कोटीका अपाय (त्याग) होता है ।

जैसे—वह मनुष्य ही है । अवायज्ञानका इतना दृढ होजाना, जिससे कालान्तर में (कुछ समय बाद) स्मृति होसके **धारणा** है । ये चारों ही ज्ञान पांच इन्द्रिय और मनसे होते हैं इसलिये सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके ६×४=२४ भेद माने जाते हैं ।

---

१ अवग्रहके दो भेद करनेसे चार भेद और वढ़ जाते हैं । व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह ये अवग्रहके भेद हैं । व्यञ्जन शब्दका अर्थ है अव्यक्त अर्थात् अप्रगट । सोते समय हमें कोई पुकारता है और नींद न खुलनेसे हम ठीक ठीक सुन नहीं पाते, फिर भी कुछ न कुछ असर हमारे ऊपर पड़ता है, इसतरहका अप्रगट ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है । यह व्यञ्जनावग्रह, आंख और मनसे नहीं माना जाता, क्योंकि ये दोनों ही अप्राप्यकारी हैं । आंख और मन दूरसे ही पदार्थको ग्रहण कर लेते हैं । न पदार्थ इनसे भिड़ता है न ये पदार्थसे भिड़ते हैं, इसलिये अप्राप्यकारी कहलाते हैं । कुछ दार्शनिकोंका मत है कि नेत्रोंसे किरणें निकलकर पदार्थपर पड़ती हैं और वर्तमानके वैज्ञानिकोंका मत है कि प्रत्येक पदार्थसे किरणें निकलती हैं और आंखपर पड़ती हैं, जैनदार्शनिक इसे वर्णादिविकार-परिणता छाया मानते हैं; इसतरह उनका मत किसीतरह वैज्ञानिकोंसे मिलताजुलता ही है । उनका नेत्रको अप्राप्यकारी मानना भी उचित है क्योंकि आंखोंसे किरणें तो दिखती नहीं हैं, दिखता है स्थूल पदार्थ, जो कि नेत्रोंसे दूर ही है, इसतरह कुल चार इन्द्रियाँ ही प्राप्यकारी हुईं; इसलिये व्यञ्जनावग्रह भी चारतरह का हुआ और सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कुल २८ भेद हुए । सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके द्वारा ग्रहण किया गया पदार्थ १२ तरहका होता है वहु, एक, वहुविध, एकविध, क्षिप्र, चिर (अक्षिप्र), अनिसृत, निसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव, अध्रुव । सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके २८ भेदोंमेंसे प्रत्येक भेद १२ तरहके पदार्थोंको विषय कर सकता हैं इसलिये इसके २८×१२=३३६ भेद हो जाते हैं ।

प्रश्न—आपने कहा था कि प्रत्यक्ष ज्ञानको दूसरे ज्ञानकी जरूरत नहीं रहती, लेकिन यहां तो ईहाको अवग्रहकी, अवायको ईहाकी, धारणाको अवायकी सहायता आवश्यक है, इसलिये ईहादिकको परोक्ष क्यों न माना जाय ?

उत्तर—एकही प्रतिभास जब विशेषरूप धारण करता जाता है तब उसकी स्पष्टता नहीं मारी जाती, इसलिये वह प्रत्यक्षही कहलाता है। धुआँको देखकर जब अग्निका ज्ञान होता है तब ज्ञान पहिले विषयको छोड़कर दूसरे विषयपर पहुँच जाता है इसलिये वह परोक्ष कहलाता है, लेकिन ईहामें अवग्रहका विषय छूटता नहीं है बल्कि वह ईहाके अन्तर्गत हो जाता है। जैसे—दूरसे हमें किसी लम्बे पदार्थका ज्ञान हुआ (अवग्रह) इसके बाद हम जरा निकट पहुँचे तो माळूम हुआ कि यह 'मनुष्य होना चाहिये' (ईहा) यहां यह नहीं कहा जासकता कि पहिले ज्ञानका लम्बापन दूसरे ज्ञानका विषय नहीं है। दूसरे ज्ञानमें लम्बापन और मनुष्यपन दोनों ही विषय होरहे हैं।

इन ज्ञानोंमें उत्तरोत्तर विशेषता है इसलिये इन्हें धारावाहिक ज्ञानके समान निरर्थक नहीं कह सकते। इसी तरह आगे जो स्मृति आदिका जिकर किया जायगा वे भी धारावाहिक ज्ञान नहीं हैं क्यों कि उनमें भी अन्तर (विशेषता) हो जाता है।

परोक्ष प्रमाणके पांच भेद हैं। स्मृति, प्रत्यभिमान, तर्क, अनुमान और आगम (शाब्द)।

---

१ इसीलिये परीक्षामुखमें लिखा है "प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्" (दूसरे ज्ञानका व्यवधान न पड़ना अथवा विशेष रूपसे प्रतिभास होना वैशद्य—प्रत्यक्षता—है)

पहिले जानेहुए पदार्थका ख्याल आना **स्मृति** है । धारणा-ज्ञानने आत्मामें ऐसा संस्कार पैदा कर दियाथा जिससे किसी निमित्तके मिलनेपर स्मरण होगया । विना धारणाके स्मृति नहीं हो सकती। इसलिये इसमें दूसरे ज्ञानकी सहायता सिद्ध होती है, और इसीलिये यह परोक्ष है । प्रत्यक्षके द्वारा जब हम किसी मनुष्यको जानते हैं, तब हमें उसका जितना साफ़ ज्ञान होता है वैसा उसके परोक्षमें नहीं.

स्मृति और अनुभव के मिलनेसे जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे **प्रत्यभिज्ञान** कहते हैं। जैसे—यह वही मनुष्य है जिसे कल देखाथा । यहांपर वर्तमानमें उस मनुष्यका प्रत्यक्ष हो रहा है और कलका स्मरण । इन दोनोंके मिलनेसे प्रत्यभिज्ञान एक तीसराही ज्ञान उत्पन्न हुआ है । कुछ लोग इसे प्रत्यक्षके भीतर शामिल करते हैं, परन्तु यह उसके अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष तो साम्हने खडे हुए मनुष्यको विषय करता है और प्रत्यभिज्ञान उस मनुष्यमें रहनेवाली एकताको । प्रत्यक्षमें यह ताकत नहीं है कि वह एकताको जान सके । जब उस मनुष्यमें रहनेवाली एकता साफ साफ नहीं मालूम होती वल्कि स्मृतिको मिलाकर विचार करनेसे मालूम होती है तब उसे अस्पष्ट ही कहना चाहिये और इसीलिये उसका ज्ञान परोक्षका एक स्वतन्त्र भेद है ।

कहा जासकता है कि प्रत्यभिज्ञान, जब स्मृति और प्रत्यक्षसे पैदा होता है तब वह दोनोंमें क्यों न बांट लिया जाय ? उसका पृथक् व्यक्तित्व क्यों माना जाय ? लेकिन पृथक् व्यक्तित्वका कारण विषयका पृथक्त्व ही है । अनुमान भी तो प्रत्यक्ष और तर्क (अवि-नाभावसम्बन्धका ज्ञान) को मिलाकर होता है, लेकिन इससे उसका पृथक् व्यक्तित्व नहीं छिन जाता । मातापितासे पैदा होनेवाली संता-

नका व्यक्तित्व, मातापितामें ही नहीं समाजाता किन्तु अलग रहता है, इसीतरह प्रत्यभिज्ञानका व्यक्तित्व भी प्रत्यक्ष और स्मृतिसे अलग है।

प्रत्यभिज्ञानके अनेक भेद हैं। एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान, आदि। एकत्वप्रत्यभिज्ञान का उदाहारण हम ऊपर दे चुके हैं। इसके द्वारा एकता बतलायी जाती है। जहां दो पदार्थोंकी समता वतलायी जाती है उसे **सादृश्य प्रत्यभिज्ञान** कहते हैं। जैसे—गाय, गवय (रोझ) के समान है। मुख चन्द्रके समान है आदि। यहां पर एक चीज तो प्रत्यक्ष है और दूसरी परोक्ष, दोनोंकी समानता, प्रत्यभिज्ञानका विषय है। कोई कोई, सादृश्यप्रत्यभिज्ञानके स्थानमें 'उपमान' शव्दका प्रयोग करते हैं, योंतो इसमें विशेष हानि नहीं है; परन्तु उपमानके भीतर प्रत्यभिज्ञानके सभी भेदोंका समावेश नहीं होता, इसलिये उपमानको अलग प्रमाण मानने पर भी काम नहीं चलता। अगर उपमानके द्वारा सदृशता और विसदृशताका ग्रहणकर लिया जाय तो भी एकत्व रहही जाता है। जिसके द्वारा दो पदार्थों की विसदृशता जानी जाती है उसे **वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान** कहते हैं। जैसे घोड़ा, हाथीसे विलक्षण है; गाय, भैंससे विलक्षण है आदि॥ दो पदार्थोंकी तुलना भी प्रत्यभिज्ञानके द्वारा की जाती है। जैसे—आंवला आमसे छोटा है। इसमें आँवला प्रत्यक्ष है और आम स्मृतिका विषय। यद्यपि दोनों ही चीजें आंखोंके साम्हने हैं परन्तु जिस समय हम तुलना करते हैं उस समय एक ही चीज प्रत्यक्ष का विषय रह जाती है। तुलनात्मक ज्ञान आंखोंसे नहीं, विचारनेसे होता है इसलिये यह परोक्ष है॥ किसीको पहिचानना भी प्रत्यभिज्ञानका कार्य है क्योंकि इसमें उसके चिन्होंका (चाहे वे देखे हों

या सुने हों किसी भी तरहसे क्यों न जाने गये हों) स्मरण होता है और विचार करनेकी भी आवश्यकता होती है ।

परोक्ष प्रमाणका तीसरा भेद तर्क है । व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध) के ज्ञान को **तर्क** कहते हैं और अन्वयव्यतिरेक को **व्याप्ति** कहते हैं । साधनके होनेपर साध्यका होना **अन्वय** है और साध्यके न होनेपर साधनका न होना **व्यतिरेक** है । धुआँको देखकर अग्निका ज्ञान किया जाता है इसलिये धुआँ साधन है और अग्नि साध्य है । इनदोनोंमें अन्वयव्यतिरेक पाया जाता है, क्योंकि जहां धुआँ होता है वहां अग्नि अवश्य होती है (अन्वय) जहां अग्नि नहीं होती वहां धुआँ नहीं होता (व्यतिरेक) ।

तर्कको प्रत्यक्षमें शामिल नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें दो चीजोंके सम्बन्धका ज्ञान होता है । प्रत्यक्षसे हम दो चीजोंको सिर्फ देख सकते हैं, किन्तु उनके विषयमें कोई नियम नहीं बांध सकते । यह काम तर्कका है । प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञानकी सहायतासे तर्क उत्पन्न होता है, इसीलिये यह उन तीनोंमें से किसी में भी शामिल नहीं हो सकता । इसे अनुमानके भीतर भी शामिल नहीं करना चाहिये । क्योंकि अनुमान तर्कका कार्य है । तर्कके द्वारा निश्चित कियेगये नियमके आधारपर इसकी (अनुमानकी) उत्पत्ति होती है ।

साधनसे साध्यके ज्ञानको **अनुमान** कहते हैं । जैसे धुआँको देखकर अग्निका ज्ञान करना । धुआँ साधन है अग्नि साध्य । जिस चीजको हम सिद्ध करना चाहते हैं उसे **साध्य** कहते हैं ऊपरके अनुमानमें हम अग्निको सिद्ध करना चाहते हैं, इसलिये वह साध्य कहलायी । यद्यपि इतनेसे ही साध्यका परिचय मिल जाता है, फिरभी साध्यकी ठीक ठीक पहिचान करनेके लिये

साध्यमें तीन विशेषणोंका होना आवश्यक बतलाया गया है । वे विशेषण हैं इष्ट, अबाधित और असिद्ध । इष्टका अर्थ है हमारी इच्छाका विषय, अर्थात् जिसे हम सिद्ध करना चाहें । अबाधित अर्थात् जो दूसरे प्रमाणोंसे बाधित न हो; जैसे, अग्निका ठंडापन प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है इसलिये यह साध्य नहीं कहला सकता । साध्यको असिद्ध होना भी आवश्यक है क्योंकि अगर वह सिद्ध होगा तो उसे सिद्ध करने की जरूरत ही न रहेगी । आखोंसे अग्निको देखते हुए उसका अनुमान करना व्यर्थ है । इसलिये जिस चीज का हमें निश्चय नहीं है या विपरीत निश्चय है अथवा सन्देह है, उसे साध्य[1] बनाना चाहिये[2] ।

शंका—' जहां जहां धुआँ होता है वहां वहां अग्नि होती है, इतना निश्चय तो तर्कसे ही कर लिया था फिर अनुमानसे सिद्ध करनेमें क्या विशेषता है ?

---

१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।

२ अगर साध्यका इतना ही अर्थ लिया जाय कि जिसे हम सिद्ध करना चाहें वह साध्य, अर्थात् अबाधित और असिद्ध विशेषण न मिलाये जावें तो भी काम चल सकता है । और अबाधित तथा असिद्ध विशेषणों के विना आनेवाले दोष, अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें शामिल किये जा सकते हैं । अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके दो भेद हैं—सिद्धसाधन और बाधितविषय । जिसका साध्य सिद्ध हो उसे सिद्धसाधन कहते हैं और जिसका साध्य प्रमाणान्तरसे बाधित हो उसे बाधितविषय कहते हैं । अगर साध्यके लक्षणमें असिद्ध और अबाधित विशेषणोंपर विशेष जोर दिया जायगा तो अकिञ्चित्कर हेत्वाभास निरर्थक हो जायगा । हां ! अगर अकिञ्चित्कर भेदको गौण करदिया जाय तो दोनों विशेषण साध्यके लक्षणमें अवश्य रखना पड़ेंगे ।

उत्तर—तर्कसे हमें अग्नि और धुआँके नियमका ज्ञान हुआ था लेकिन उससे इस बातका पता नहीं लगा था कि पर्वतमें अग्नि है या नहीं ? पर्वतादिकमें अग्निको सिद्धकरना अनुमानका काम है। इसलिये तर्कके साध्यमें और अनुमानके साध्यमें अन्तर है। तर्कमें सिर्फ अग्नि साध्य है किन्तु अनुमानमें अग्निवाला पर्वत अर्थात् पर्वतमें अग्नि साध्य है। इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि तर्कमें तो सिर्फ धर्म साध्य है और अनुमानमें धर्मसहित धर्मी साध्य[1] है। यदि अनुमानका साध्य तर्कका साध्य बना दिया जावे तो बात बिलकुल बिगड़ जावेगी। जहां धुआँ है वहां अग्नि है यह कहना तो ठीक है; लेकिन जहां धुआँ है वहां अग्निवाला पर्वत है यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इससे रसोईघर आदिमें भी धुआँ देखकर पर्वत मानना पड़ेगा किन्तु यह कल्पना अनुचित है। इससे माल्म होता है कि तर्क, अनुमानका कार्य नहीं कर सकता।

अनुमानमें हमने धर्मीको अर्थात् साध्य (तर्कमें मानेगये साध्य) के आधारको भी साध्य माना है, इसलिये अनुमानके साध्यके दो भाग हो गये हैं धर्म और धर्मी। इनमें धर्मी सिद्ध होता है क्योंकि अगर धर्मी सिद्ध न होगा तो धर्मकी सिद्धि किस जगह की जायगी ? जिसे पहाड़का भी पता नहीं है वह पहाड़में अग्नि कैसे सिद्ध करेगा ? हां धर्मीकी सिद्धि सर्वत्र प्रमाणसे ही नहीं होती, कहीं कहीं तो उसे प्रमाणसिद्ध माननेमें अनुमान व्यर्थ ही नहीं हो जाता, बल्कि असत्यका पोषक अथवा आपही

---

१ साध्यं धर्मःक्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी । व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव । अन्यथा तदघटनात् । परीक्षामुख ।

अपना विरोधी बन जाता है जैसे—खरविषाण (गधेका सींग) नहीं है क्योंकि उसकी अनुपलब्धि है। यहांपर पक्ष अथवा धर्मी खरविषाण है, साध्य है उसका नास्तित्व, साधन है अनुपलब्धि । यहां यदि खरविपाणको प्रमाणसे सिद्ध धर्मी मानलें तो इससे खरविषाणका अस्तित्व ही सिद्ध हो जायगा फिर इसी अनुमानके द्वारा खरविषाणका नास्तित्व सिद्ध करना अपने ही अंगके साथ अपना विरोध करना है। क्योंकि इसी अनुमानका एक अंग खरविषाणका अस्तित्व सिद्ध करता है और दूसरा अंग नास्तित्व। इसी तरह दूसरा अनुमान लीजिये "परमाणु हैं क्योंकि घट आदि स्कन्धोंकी उपलब्धि होती है। इस अनुमानमें परमाणु पक्ष हैं और उनका अस्तित्व साध्य, यदि यहां पर परमाणुको प्रमाणसिद्ध धर्मी मानलें तो हेतु देनेके पहिले ही परमाणुओंका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा, इसलिये अनुमान निरर्थक मानना पड़ेगा । इसीतरह प्रत्येक वस्तुका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध न हो सकेगा । इसलिये जिस धर्मीमें अस्तित्व या नास्तित्व साध्य हो उस धर्मीको प्रमाणसिद्ध नहीं कहते, किन्तु विकल्पसिद्ध कहते हैं। विकल्पसिद्ध धर्मीमें अस्तित्व और नास्तित्वके सिवाय और कोई धर्म साध्य नहीं हो सकता। एक तीसरे प्रकारका भी धर्मी माना जाता है, जिसे उभयसिद्ध धर्मी कहते हैं। जिस धर्मीका कुछ अंश प्रमाणसिद्ध होता है और कुछ अंश विकल्पसिद्ध होता है, उसे उभयसिद्ध धर्मी कहते हैं । जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि कृत्रिम है। यहां कोई खास शब्द धर्मी (पक्ष) नहीं है किन्तु सभी शब्द (त्रिकाल त्रिलोकके) धर्मी हैं। उनमेंसे वर्तमान कालके

---

१ विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ।

और निकटवर्ती शब्द तो प्रमाणसिद्ध हैं या और भी थोड़े बहुत शब्द स्मृत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध माने जा सकते हैं लेकिन बाकी शब्द, प्रमाणसिद्ध न होनेसे विकल्पसिद्ध माने जाते हैं। इस तरह एकही धर्मी विकल्पसिद्ध और प्रमाणसिद्ध होनेसे उभयसिद्ध माना जाता है। विकल्पसिद्ध और प्रमाणसिद्ध धर्मीमें सत्ता असत्ताको छोड़कर बाकी सब धर्म साध्य[1] हो सकते हैं। उभयसिद्ध धर्मी और प्रमाणसिद्ध धर्मीमें साधारण दृष्टिसे एक अन्तर यह भी नजरमें आता है कि उभयसिद्ध धर्मी जात्यात्मक होता है। जैसे शब्द (शब्दमात्र) आदि, और प्रमाणसिद्ध धर्मी व्यक्त्यात्मक होता है। जैसे यह पर्वत (न कि सभी पर्वत) इत्यादि।

---

१ प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता।

२ धर्मीके ये तीन भेद, प्राचीन परिपाटीके अनुसार लिखे गये हैं। जैन और बौद्ध तार्किकों ने इन भेदोंको माना है। परन्तु आजकल इन भेदोंका प्रयोग नहीं होता, इसलिये सभी धर्मी प्रमाणसिद्ध माने जाते हैं। इसका कारण सिर्फ कथनशैलीका भेद है। नवीन परिपाटीके अनुसार केवल अस्तित्व और केवल नास्तित्व साध्य नहीं होता, किन्तु वह देशकालकी अपेक्षा रखता है। जैसे खरविषाणके नास्तित्वको सिद्ध करनेमें प्राचीन रीतिके अनुसार खरविषाण पक्ष है और नवीन रीतिके अनुसार 'खर' पक्ष है तथा 'विषाणका नास्तित्व' साध्य है। यहां 'खर' प्रमाणसिद्ध धर्मी कहलाया। बात यह है कि विकल्पसिद्ध धर्मीके वाचक दो शब्द होते हैं जैसे 'खरविषाण' में 'खर' और 'विषाण' दो शब्द हैं। इनमें एक पक्ष है दूसरा साध्य। जिस पक्षका वाचक एकही शब्द है वह विकल्पसिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि विना अर्थका असंयुक्त शब्द नहीं होता। असंयुक्त शब्दका अर्थ (वाच्य) अगर विकल्पसिद्ध धर्मी बनाया जाय तो समझना चाहिये कि वास्तविक धर्मी छिपा

साध्यके वाद साधनका नम्बर है। जिसके द्वारा साध्यकी सिद्ध की जाती है उसे **साधन** कहते हैं। साध्यकी सिद्धि उसीके द्वारा हो सकती है जिसका कि साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो। अर्थात् अन्वयव्यतिरेक मिल रहा हो, इसलिये दूसरे शब्दोंमें साधन उसे कहते हैं जिसका साध्यके साथ अविनाभाव (अन्यथानुपपत्ति) हो। अग्निका धुआँके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, इसलिये धुआँ, अग्निका साधन है। यद्यपि इतनेसे ही साधनकी ठीक ठीक पहिचान हो जाती है फिरभी अनेक दार्शनिकों ने दूसरे शब्दोंमें भी साधनका लक्षण बतलाया है। जैसे—जिसमें पक्षधर्मता, सपक्षसत्त्व, विपक्षसे व्यावृत्ति हो उसे साधन कहते हैं। जहां साध्यके रहनेका सन्देह हो अथवा जहां हम साध्यको सिद्ध करना चाहें उसे **पक्ष** कहते हैं। जैसे—अग्निके अनुमानमें पर्वत। जहां साध्यके रहनेका निश्चय हो उसे **सपक्ष** कहते हैं। जैसे—उसी अनुमानमें रसोईघर आदि। जहां साध्यके अभावका निश्चय हो उसे **विपक्ष** कहते हैं जैसे—तालाव। हमारा धुआँ रूप हेतु, पक्ष (पर्वत) और सपक्ष (रसोईघर) में तो मौजूद है किन्तु विपक्ष (तालाव) में मौजूद नहीं है इसलिये यह हेतु विपक्षव्यावृत्त कहलाया। इन तीन

हुआ है। जैसे 'घट नहीं है' यहाँ पर 'घट' धर्मी और 'नहीं है' साध्य बनाया गया है परन्तु वास्तविक धर्मी है 'यहां' और 'घट नहीं है' यह साध्य है। जब 'यहां' 'वहां' आदि धर्मी छिपे रहते हैं तब हमें प्रमाणसिद्ध धर्मी, विकल्पसिद्धसा मालूम होने लगता है। उभयसिद्ध धर्मीको 'प्रमाणसिद्ध धर्मीके अन्तर्गत करनेमें विशेष कठिनाई नहीं है, क्योंकि वहांपर व्यक्ति (विशेष) जाति (सामान्य) के भेदकी अपेक्षा न रखनेसे ही दोनों धर्मी एक हो जाते हैं।

बातोंके सिवाय किसी किसी दार्शनिक ने दो अन्य बातोंका होना भी आवश्यक माना है । वे अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वका भी समावेश करते हैं। अग्नि शीतल है क्योंकि अग्निकी शीतलता प्रत्यक्षसे बाधित है। हेतुमें ऐसी बाधितविषयता न होना चाहिये । इसीप्रकार हेतुको असत्प्रतिपक्ष भी होना चाहिये । अगर कोई कहे कि शब्द अनित्य है क्योंकि नित्य नहीं है तो यह हेतु ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका प्रतिपक्षी हेतु मौजूद है—शब्द नित्य है क्यों कि अनित्य नहीं है, इसलिये हेतु असत्प्रतिपक्ष भी न होना चाहिये। इसप्रकार तीन या पांच रूपवाला (त्रैरूप्य या पाञ्चरूप्य) हेतु माननेमें आपत्ति सिर्फ इतनी ही है कि अनेक हेतु, तीनरूप या पांचरूपके विना भी साध्यकी सिद्धि करते हैं । क्योंकि सभी हेतु साध्यके साथ रहनेवाले नहीं होते। कोई सहभावी होते हैं कोई क्रमभावी। धुआँ अग्निके साथ रहता है इसलिये इसमें पक्षधर्मता है। लेकिन जो हेतु क्रमभावी हैं उनमें पक्षधर्मता कैसे रह सकती है ? जैसे—शकट नक्षत्रका उदय होगा क्योंकि कृत्तिकाका उदय है, यहां दोनों नक्षत्रोंका उदयकाल जुदा जुदा होनेसे पक्षधर्मता नहीं बन सकती; फिर भी अनुमान गलती नहीं है। इसलिये हेतुका अविनाभाव लक्षण ही ठीक है, वह छोटा होकर भी पूरा काम देता है। खैर ! विस्तार जितना चाहे किया जाय लेकिन सच्चा हेतु वही है जो निर्दोष रीतिसे साध्यकी सिद्धि करदेता हो।

हेतुके भेद—हेतु दो तरहके होते हैं विधिरूप (उपलब्ध्यात्मक) और प्रतिषेधरूप (अनुपलब्ध्यात्मक) इनका लक्षण नामसे ही प्रगट है । पर्वतमें अग्निसिद्ध करनेवाला धुआँ हेतु, विधिरूप या उपलब्ध्यात्मक है। 'वहां धुआँ नहीं है क्योंकि वहां अग्नि नहीं है'

यहां अग्निका प्रतिषेध या अनुपलब्धि हेतु है, इसलिये यह प्रतिषेधरूप हेतु कहलाया। विधिरूप हेतु दो तरह के होते हैं एक तो वे, जो किसी पदार्थ की विधि (सद्भाव) सिद्ध करते हैं दूसरे वे, जो किसी पदार्थका प्रतिषेध सिद्ध करते हैं। इसीतरह प्रतिषेधरूप हेतु भी दो तरह के होते हैं। इस तरह हेतुओंके चार भेद हुए। (१) विधिरूपविधिसाधक (२) विधिरूपप्रतिषेधसाधक (३) प्रतिषेधरूपप्रतिषेधसाधक (४) प्रतिषेधरूपविधिसाधक। इन चारोंको दूसरे शब्दोंमें यों कहसकते हैं—(१) अविरुद्धोपलब्धि (२) विरुद्धोपलब्धि (३) अविरुद्धानुपलब्धि (४) विरुद्धानुपलब्धि। इन चारों ही भेदोंके क्रमसे ६–६–७–३ भेद हैं।

विधिरूपविधिसाधक (अविरुद्धोपलब्धि)के छः भेद—व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर। जो हेतु, साध्यका व्याप्य (थोड़ेमें रहनेवाला) हो उसे **व्याप्यहेतु** कहते हैं। जैसे—घड़ा (पक्ष) स्थूल–परिणामी है (साध्य) क्योंकि किसी मनुष्यके द्वारा बनाया गया है (हेतु) जो किसी मनुष्यके द्वारा बनाया जाता है वह स्थूलपरिणामी होता है जैसे कपड़ा, जो स्थूलपरिणामी नहीं होता वह किसी मनुष्यके द्वारा बनाया नहीं जाता। जैसे—आकाश, परमाणु आदि। यहांपर 'किसीके द्वारा बनायाजानारूप' हेतु, स्थूलपरिणामरूप साध्यका व्याप्य है। क्योंकि बहुतसी चीजें ऐसी हैं जो स्थूल परिणमन तो करतीं हैं परन्तु किसी मनुष्यके द्वारा बनायीं नहीं जातीं; जैसे—इन्द्रधनुष आदि। इसलिये स्थूलपरिणमन व्यापक है और बनाया जाना व्याप्य, यह व्याप्य यहां उपलब्ध है और किसी चीजकी (स्थूलपरिणमनकी) विधि सिद्ध करता है इसलिये यह हेतु अविरुद्धव्याप्योपलब्धिरूप कहलाया।

शंका—जैसे आप अविरुद्धव्याप्योपलब्धिरूप भेद करते हैं उसीप्रकार अविरुद्धव्यापकोपलब्धि भेद क्यों नहीं करते ?

उत्तर—हेतुका यह नियम है कि उसकी उपलब्धि होनेपर साध्यकी उपलब्धि अवश्य होती है । इसीतरह व्याप्यका भी नियम है कि उसकी उपलब्धि होनेपर व्यापक की उपलब्धि अवश्य होती है । जहां व्याप्य, हेतु होता है वहां व्यापक साध्य वन जाता है, इसलिये व्याप्योपलब्धि को हेतु वना देनेसे साध्यकी सिद्धि होती है । लेकिन ऐसा नियम नहीं है कि व्यापक की उपलब्धि होनेपर व्याप्य की उपलब्धि हो ही । ऐसी हालतमें यदि व्यापक की उपलब्धि, हेतु वनादीजाय तो व्याप्यकी उपलब्धि साध्य वनेगी, जो कि व्यापक के रहनेपर भी न रहेगी तव साध्यसिद्धि भी न हो सकेगी । (मनुष्यत्व व्यापक है ब्राह्मणत्व व्याप्य है. क्योंकि जो ब्राह्मण है वह मनुष्य तो अवश्य है; लेकिन जो मनुष्य है वह ब्राह्मण अवश्य है यह नहीं कहा जा सकता । इसीतरह सर्वत्रव्याप्य व्यापकका स्वरूप समझना चाहिये)

जो हेतु, साध्यका कार्य होकर उपलब्ध हो उसे **अविरुद्ध कार्योपलब्धि** हेतु कहते हैं । जैसे—पर्वतमें अग्नि है क्योंकि धुआँ है । यहां धुआँ (हेतु), अग्नि (साध्य) का कार्य होकर उपलब्ध है और अग्नि की विधि सिद्ध करता है ।

जो हेतु साध्यका कारण होकर उपलब्ध हो उसे **अविरुद्ध कारणोपलब्धि** रूप हेतु कहते हैं । जैसे—यहां छाया है क्योंकि छत्र है । छत्र (हेतु), छाया (साध्य) का कारण है और दोनों ही विधिरूप हैं इसलिये यह अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु कहलाया ।

शङ्का—जैसे व्यापकके होनेपर व्याप्यके होनेका नियम नहीं है इसलिये आपने अविरुद्धव्यापकोपलब्धि हेतु नहीं बताया, उसी तरह, कारणके होनेपर कार्यके होनेका नियम नहीं है इसलिये अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु भी न बतलाइये।

उत्तर—ऐसा एक भी व्यापक नहीं है जिसके साथ किसी व्याप्यका होना सर्वत्र सर्वदा अनिवार्य हो इसलिये व्यापकके होनेपर व्याप्यके होनेकी व्याप्ति नहीं बन सकती। लेकिन ऐसे हजारों कारण हैं जिनके होनेपर कार्यका होना सर्वत्र और सर्वदा अनिवार्य है इसलिये कारणके होनेपर कार्यके होनेकी व्याप्ति बन सकती है। ऊपरके उदाहरण में छत्र कारण है जिसके होनेपर छायारूप कार्य अवश्य होता है। रात्रिमें भी छत्रकी छाया रहती है। यह बात दूसरी है कि वह अँधेरे में विलीन होजानेसे अलग नहीं दिख पड़ती।

भरणि नक्षत्रके बाद कृत्तिका नक्षत्रका उदय होता है, और इसके बाद शकट नक्षत्रका। इसलिये जिस समय कृत्तिका का उदय है उस समय दो अनुमान इसप्रकार किये जा सकते हैं (१) शकटका उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है (२) भरणिका उदय होगया क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है। पहिले अनुमानमें हेतु (कृत्तिका का उदय) साध्य (शकटोदय) के पहिले रहता है, इसलिये **पूर्वचर** कहलाया। दूसरे अनुमानमें

---

१ मेघोंके होनेसे वृष्टि होती है लेकिन कभी कभी मेघोंके रहने परभी वृष्टि नहीं होती। कुम्हार घड़ा बनाता है लेकिन कभी कभी उसके रहनेपर भी घड़ा नहीं बनता आदि हजारों दृष्टान्त हैं जहां कारणके रहने पर भी कार्य नहीं होता।

हेतु (कृत्तिकाका उदय) साध्य (भरणिके उदय) के बाद होता है इसलिये **उत्तरचर** कहलाया । इन दोनोंमें कार्यकारणता और व्याप्यव्यापकता नहीं है इसलिये ये अलग भेद हैं । इसीप्रकार सहचर भी अलग भेद है । जैसे—फूलमें स्पर्श है क्योंकि गन्ध है । इस अनुमानमें स्पर्श और गंध दोनों साथ रहने वाले हैं इसलिये यहां पर हेतु **सहचर** कहलाया । ये तीनों उपलब्धिरूप और विधि-साधक हैं ।

विधिरूपप्रतिषेधसाधक अर्थात् विरुद्धोपलब्धि के भी छः भेद हैं—जब किसी वस्तुके विरुद्ध कोई वस्तु उपलब्ध होती है तब वह प्रतिषेध ही सिद्ध करती है इसलिये विरुद्धोपलब्धि प्रतिषेध-साधक ही होती है । इसके भी व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर इस प्रकार छः भेद हैं ।

घड़ा व्यापी नहीं है क्योंकि दृश्य (नेत्रोंका विषय) है । व्यापी-पनका विरोधी है अव्यापीपन, उसका व्याप्य है दृश्यता । (क्योंकि जो दृश्य है वह अव्यापी तो अवश्य है लेकिन जो अव्यापी है वह दृश्य होता भी है और नहीं भी होता । घड़ा अव्यापी होकर दिखता है. परमाणु या द्व्यणुकादि अव्यापी होकर नहीं दिखते इसलिये अव्यापीपन व्यापक है और दृश्यता व्याप्य है) यहां व्यापीपनके विरोधीका व्याप्य उपलब्ध है इसलिये व्यापीपनका प्रतिषेध सिद्ध हुआ और यह हेतु **विरुद्धव्याप्योपलब्धि** रूप कहलाया ।

' यहां उतनी ठंड नहीं है क्योंकि धुआँ निकल रहा है ' इसमें ठंडका विरोधी अग्नि है और अग्निका कार्य धुआँ है, इसलिये यहां ठंडका प्रतिषेध सिद्ध हुआ और यह हेतु **विरुद्धकार्योपलब्धि** रूप कहलाया ।

'यह आदमी सुखी नहीं है क्योंकि इसके हृदयमें शल्य है' इस अनुमानमें सुखी होनेका विरोधी दुखी होना है और दुखी होने का कारण शल्य मौजूद है इसलिये यह हेतु **विरुद्धकारणोपलब्धि** रूप कहलाया।

इसके वाद शकटका उदय न होगा क्योंकि अभी रेवतीका उदय है। यहां शकटका विरोधी अश्विनी है उसका पूर्वचर रेवती है इसलिये यह **विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि** रूप हेतु कहलाया।

'इससे पहिले भरणिका उदय नहीं था क्योंकि इस समय पुष्यका उदय है' इस अनुमानमें भरणिके उदयका विरोधी पुनर्वसुका उदय है और उसका उत्तरचर पुष्यका उदय मौजूद है इसलिये यह हेतु **विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि** रूप कहलाया।

तराजूका पहिला पलड़ा नीचा नहीं है क्योंकि दूसरा पलड़ा नीचा है। इस अनुमानमें पहिले पलड़ेके नीचेपनका विरोधी है पहिले पलड़ेका ऊंचापन, और इसका सहचर है दूसरे पलड़ेका नीचापन (जब पहिला पलड़ा नीचा होता है तब दूसरा ऊंचा होता है इसलिये पहिलेके नीचेपन और दूसरेके ऊँचेपनमें, और दूसरेके नीचेपन और पहिलेके ऊंचेपनमें सहचरता है) इसलिये यह हेतु **विरुद्धसहचरोपलब्धि** रूप कहलाया।

हेतुका तीसरा भेद अविरुद्धानुपलब्धि अर्थात् प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक है। इसके सात भेद हैं—स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर। 'इस जगह घड़ा नहीं है क्योंकि उपलब्ध नहीं होता' इस अनुमानमें "उपलब्ध नहीं होना" अनुपलब्ध्यात्मक हेतु है और घड़ेके प्रतिषेधको सिद्ध करता है।

घड़ेका स्वभाव ' उपलब्ध होना ' है इसलिये ' घड़ेके निषेध'का स्वभाव ' उपलब्ध न होना ' मानागया ।

प्रश्न—अविरुद्धानुलब्धिमें स्वभावानुपलब्धि नामका सातवाँ भेद क्यों खड़ा किया जाता है ? अथवा उपलब्ध्यात्मक हेतुओंमें भी स्वभावोपलब्धि नामका भेद क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर—जहांपर स्वभावकी उपलब्धि होती है वहां अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष माना जाता है । जैसे ' इस कमरेमें घड़ा है क्योंकि उपलब्ध होता है अथवा दिखता है इसको अनुमान नहीं कहते किन्तु प्रत्यक्ष कहते हैं । अगर इसे भी अनुमान कहने लगें तो सभी प्रत्यक्ष अनुमान कहलाने लगेंगे, क्योंकि किसी चीजके स्वभावको देखकर ही तो प्रत्यक्ष किया जाता है इसलिये स्वभावोपलब्धिसे अनुमान न मानना चाहिये ।

प्रश्न—यदि स्वभावोपलब्धिसे अनुमान न माना जाय तो स्वभावानुपलब्धिसे भी अनुमान न मानना चाहिये । अनुपलब्धिसे घड़ेके अभावको जानना भी तो प्रत्यक्ष कहा जाता है । जो लोग (बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक जैन, आदि) अभाव प्रमाणको अलग नहीं मानते वे लोग अभावको विषयकरनेवाला, प्रत्यक्ष आदिकोही मानते हैं । यह ठीक है कि अभाव, अनुमानका भी विषय है लेकिन उपर्युक्त उदाहरणमें (घटाभावके अनुमानमें) तो प्रत्यक्षही काम करेगा ।

उत्तर—अभावके दो भेद हैं पर्युदास और प्रसज्य । पर्युदासमें एक चीजके अभावमें दूसरी चीज पकड़ी जाती है इस पक्षमें ' घटाभाव'का अर्थ ' खाली जमीन ' है । खाली जमीनको हम

देख सकते हैं इसलिये यहांपर घटाभाव प्रत्यक्षका विषय माना जाता हैं । प्रसज्य पक्षमें खाली अभाव पकड़ा जाता है किसी दूसरी वस्तुका ग्रहण नहीं किया जाता, इसलिये इस पक्षमें घटाभाव इंद्रियोंका विषय नहीं होता और इसीसे वह अनुमानका विषय माना जाता है ।

प्रश्न—पर्युदास और प्रसज्यकी ठीक ठीक पहिचान क्या है ?

उत्तर—किसी वस्तुके अभाववाचक पदमें पर्युदास पक्ष लेना अथवा प्रसज्य, यह वक्ताकी इच्छापर निर्भर है । प्रायः एक ही तरहके पदसे दोनों तरहका अर्थ लिया जाता है । फिरभी इतना नियम रक्खा गया है कि जहां वस्तुवाचक शब्दके साथ निषेध-वाचक अव्ययका सम्बन्ध हो वहां **पर्युदास** पक्ष समझना चाहिये और जहां क्रियापदके साथ निषेधवाचक अव्ययका सम्बन्ध हो वहां प्रायः **प्रसज्य** पक्ष समझना चाहिये । जैसे 'यहां अमनुष्य है' इस वाक्यमें निषेधवाचक अव्यय 'अ' का सम्बन्ध वस्तुवाचक 'मनुष्य' के साथ है, इसलिये इस वाक्यका अर्थ हुआ 'मनुष्यको छोड़कर और कोई पशु आदि है' यहां अभावसे किसी दूसरी चीजका सद्भाव स्वीकृत है इसलिये यह पर्युदास कहलाया । 'यहां मनुष्य नहीं है' इस वाक्यमें निषेधवाचक 'नहीं' का सम्बन्ध 'है' क्रियापदके साथ है इसलिये यह प्रसज्य कहलाया और इस वाक्यका अर्थ सिर्फ 'मनुष्यका अभाव' हुआ, किसी दूसरेका सद्भाव नहीं ।

'इस जंगलमें कोई मार्गदर्शक मनुष्य नहीं है क्योंकि यहां मनुष्य मात्रका अभाव है' इस अनुमानमें व्यापकके अभावसे व्याप्य-

का अभाव सिद्ध किया गया है । उपलब्ध्यात्मक भेदोंमें 'व्यापक' का भेद नहीं रक्खा गया था क्योंकि व्यापककी उपलब्धिमें व्याप्यकी उपलब्धि होनेका नियम नहीं है । मनुष्य होनेसे ही कोई मार्गदर्शक ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं हो सकता । अनुपलब्ध्यात्मक के भेदोंमें व्याप्य का भेद नहीं रक्खा गया क्योंकि व्याप्यकी अनुपलब्धिमें व्यापककी अनुपलब्धिका नियम नहीं है । ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह ब्राह्मण नहीं है इसलिये मनुष्य भी नहीं है ।

इस बीमार आदमीका ज्वर वैसा नहीं रहा क्योंकि अब शरीरमें वैसी गर्मी नहीं है । शरीरमें गर्मी आजाना ज्वरका कार्य है । इस कार्य की अनुपलब्धिसे हम कारणकी अनुपलब्धि का अनुमान करते है । साधारणतः कार्यके अभावमें कारणका अभाव नहीं होता, लेकिन कोई कोई कार्य ऐसे हैं जो अपने अभावमें कारणके अभावका नियम रखते हैं । किसी बीमार आदमीके शरीरकी गर्मी घटनेसे ज्वरके घटनेका अनुमान करना सत्य है । ऐसे ही स्थलोंपर कार्यानुपलब्धि, कारणानुलब्धि की साधक है ।

'यहां धुआँ नहीं है क्योंकि अग्नि नहीं है' इस अनुमान में कारण की अनुपलब्धिसे कार्य की अनुपलब्धि सिद्धकी गई है । कारणके अभावमें कार्यका अभाव होना ठीक ही है ।

"इसके बाद शकटका उदय न होगा क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं है" इसमें पूर्वचरकी अनुपलब्धिसे उत्तरचरकी अनुपलब्धि सिद्ध की गई है । "इसके पहिले भरणिका उदय नहीं था क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं है" इस अनुमानमें उत्तर-चरकी अनुपलब्धिकेद्वारा पूर्वचरकी अनुपलब्धिका अनुमान किया

गया है ' तराजूका पहिला पलड़ा नीचा नहीं है क्योंकि दूसरा पलड़ा ऊंचा नहीं है ' पहिले पलडेका नीचा होना और दूसरेका ऊंचा होना एक साथ की क्रियाएँ हैं इसलिये एक की अनुपलब्धिमें दूसरे की अनुपलब्धि सिद्ध की गई।

हेतुका चौथा भेद विरुद्धानुपलब्धि अर्थात् प्रतिषेधरूपविधि साधक है। इसके सिर्फ तीन ही भेद हैं (१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि (२) विरुद्धकारणानुपलब्धि (३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि। ये तीनों विधिसाधक हैं। " यह आदमी बीमार है क्योंकि इसकी नाड़ी ठीक नहीं चलती " बीमारीका विरोधी स्वास्थ्य है उसका कार्य है नाड़ीका ठीक चलना, वह यहां उपलब्ध नहीं है इसलिये बीमारीका अनुमान किया जाता है।

' यह मनुष्य दुखी है क्योंकि इसकी इच्छित वस्तु नहीं मिलरही है ' दुखका विरोधी सुख है, उसका कारण है इच्छित वस्तुकी प्राप्ति, वह यहां मौजूद नहीं है इसलिये दुःखका अनुमान किया जाता है।

वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्तस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। अनेकान्तका विरोधी एकान्त है उसकी अनुपलब्धि यहां मौजूद है।

प्रश्न—अविरुद्धानुपलब्धि के जिसप्रकार सात भेद किये,

---

१ नक्षत्रोंकी पूर्वचरता उत्तरचरता को ध्यानमें रखने में साधारण पाठकों को अड़चन जाती है इसलिये जो ज्योतिषका ज्ञान न रखते हों वे रविवार सोमवार आदि दिनोंमें पूर्वचरता उत्तरचरताकी कल्पना करके उदाहरण बना सकते हैं।

उस तरह विरुद्धानुपलब्धि के भी सात भेद क्यों न किये ? व्यापक पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, क्यों छोड़ दिये ?

उत्तर—किसी धर्मकी विधि सिद्ध करने के लिये उस धर्म के विरोधी की अनुपलब्धि बतलाना चाहिये । विरोधी के व्यापक की अनुपलब्धि बतलाना अनावश्यक है । दूसरी और मुख्य बात यह है कि जिस चीज को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसके विरोधी का व्यापक मिलना मुश्किल है । अगर व्यापक ढूढ़ा जायगा तो वह विरोधीका ही व्यापक न बनके साध्यका भी व्यापक बन जायगा । जैसे पृथ्वी जड़ है क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है । जड़त्वका विरोधी ज्ञान है उसका व्यापक है सत्त्व; सत्त्व, जड़त्वका भी व्यापक है इसलिये सत्त्वकी अनुपलब्धिमें जड़त्व की भी अनुपलब्धि हो जायगी तब तो अनुमान ही नष्ट हो जायगा । इसलिये विरुद्धव्यापका-नुपलब्धि हेतु बन नहीं सकता । विरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि और विरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि जिस प्रकार साध्यके अभावमें रहती हैं उसीप्रकार साध्यके विरोधीके भी अभावमें रहती हैं । जैसे—अभी शकटका उदय है क्योंकि रेवतीका उदय नहीं है । इस अनुमानमें शकटके उदयका विरोधी अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर है रेवती । जिस समय रेवतीका उदय नहीं है उस समय शकटका उदय हो सकता है और शकटके विरोधी अश्विनीका उदय भी हो सकता है इसलिये विरुद्धउत्तरचरानुपलब्धिरूप हेतु सदैव व्यभिचारी रहेगा । इसलिये हेतुके भेदोंमें इन्हें शामिल नहीं किया गया । विरोधीका सहचर भी विरोधी कहलाता है इसलिये वह विरुद्ध स्वभावानुपलब्धिमें ही शामिलकर लिया जाता है । इस प्रकार विरुद्धा

नुपलब्धिके सात भेद न कहकर तीन भेद कहना ही ठीक[1] है।

प्रश्न—आपने हेतुके भेदोंमें कार्य, कारण, आदि भेद तो बतलाये परन्तु कार्यका कार्य, कारणका कारण, कारणका विरोधी आदि भी हेतु हो सकते हैं फिर इनकी गणना क्यों नहीं की?

उत्तर—कार्यका कार्य भी कार्य माना जाता है। कारणका कारण भी कारण माना जाता है। कारणका विरोधी भी विरोधी माना जाता है। इसलिये ये परम्परारूप हेतु, मूलहेतुओं में ही शामिल करना चाहिये। जैसे—इस गुफामें मृग नहीं खेल रहे हैं क्योंकि शेर गर्ज रहा है। यह हेतु कारणविरुद्धकार्योपलब्धिरूप है क्योंकि मृगोंके खेलनेका कारण हैं मृग, उनका विरोधी शेर है, शेरका कार्य है उसका गर्जन। यह हेतु विरुद्धकार्योपलब्धि में शामिल किया जाता है। क्योंकि, शेर मृगोंका विरोधी होने से उनके खेलनेका विरोधी कहा जाता है।

इस प्रकार हेतुओंके कुल बाईस भेद हुए[2]।

हेतुओंके अथवा हेतुके भेदसे अनुमानके दूसरे ढंगसे तीन भेद किये जाते हैं (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतो[3]—

---

१ हमने यहां अपनी बुद्धिके अनुसार चारों तरहके हेतुओं की संख्याका कारण बतलानेकी चेष्टा की है। हमारे बतलाये हुए कारण शङ्कास्पद भी हो सकते हैं इसलिये विशेष बुद्धिमानों को इस विषयपर विशेष विचार करना चाहिये।

२ हमने ये २२ भेद प्राचीन परपाटीके अनुसार लिख दिये हैं आज कल इनका प्रयोग नहीं होता।

३ 'तत्पूर्वकम् त्रिविधमनुमानं, पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च'

दृष्ट । जहां कारणसे कार्यका अनुमान किया जाय वह 'पूर्ववत्' । जहां कार्यसे कारणका अनुमान किया जाय वह 'शेषवत्' । कार्य कारणको छोड़कर अन्य साधनसे साध्यकी सिद्धि की जाय वह सामान्यतोदृष्ट ।

उपर्युक्त तीनों पारिभाषिक शब्दोंका अर्थ दूसरे ढंगसे भी किया जाता है । पूर्ववत्=केवलान्वयी । शेषवत्=केवलव्यतिरेकी । सामान्य =अन्वयव्यतिरेकी । लेकिन यह अर्थ कुछ ठीक नहीं जचता क्योंकि अन्वयको पूर्व और व्यतिरेकको शेष कहनेमें कोई खास कारण नहीं मिलता । दूसरी वात यह है कि केवलान्वयी और केवलव्यति-रेकी भेद भी ठीक नहीं मालूम होते । हमारी समझमें तो इन्हें भी अन्वयव्यतिरेकी मानना चाहिये । क्योंकि केवल अन्वय और केवल व्यतिरेकसे व्याप्तिका ठीक निश्चय नहीं हो सकता । और जहां व्याप्तिका ठीक ठीक निश्चय होता है वहां अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही दृष्टान्त मिल सकते हैं । यहां हम अपने वक्तव्यको कुछ स्पष्टतासे रखदेना उचित समझते हैं ।

केवलान्वयी हेतु उसे कहते है जिसका निश्चायक सिर्फ अन्वय दृष्टान्त हो । जैसे जीव, अनेकधर्मात्मक है क्योंकि सत् है । जो सत्रूप होता है वह अनेकधर्मात्मक होता है, जैसे—पृथ्वी आदि । अव अगर इसकी व्यतिरेक व्याप्ति मिलायी जाय तो वह भी मिल सकती है जैसे—जो अनेकधर्मात्मक नहीं है वह सत्रूप भी नहीं है जैसे—खरविपाण । कहा जाता है कि खरविपाण तो

जैनन्यायके ग्रंथोंमें इन पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग नहीं किया गया है । पारिभाषिक शब्दोंके विषयमें कुछ कहना अनावश्यक है ।

कोई वस्तु ही नहीं है फिर उसे दृष्टान्त कैसे कहा जाय? लेकिन हमारे ख्यालसे उसे यहां इसीलिये दृष्टान्त मानना चाहिये कि वह अवस्तु है। क्योंकि असत्‌के लिये तो अवस्तु ही दृष्टान्तरूपमें उपस्थित की जायगी, न कि वस्तु। यह बात भी नहीं है कि दृष्टान्त रूपमें खरविषाणका प्रयोग न किया जाता हो "विशेषरहित सामान्य खरविषाणके समान है सामान्यरहित विशेष खरविषाणके समान[1] है" इत्यादि स्थानोंमें खरविषाण के द्वारा वस्तुका विवेचन हुआ है। इसलिये व्यतिरेकदृष्टान्तके रूपमें खरविषाणका उल्लेख होना आपत्तिजनक नहीं है। हां! अन्वय दृष्टान्तके रूपमें उसका प्रयोग न होना चाहिये। क्योंकि अन्वयदृष्टान्तमें साधनका सद्भाव बतलाया जाता है, जब कि व्यतिरेकमें अभाव।

केवलव्यतिरेकी हेतु उसे कहते हैं जिसका निश्चायक सिर्फ अन्वय दृष्टान्त हो। जिन्दे शरीरमें आत्मा है क्योंकि उसमें प्राण हैं। जहां आत्मा नहीं है वहां प्राण भी नहीं है। जैसे—कुर्सी टेबुल आदि। कहा जाता है कि यहां व्यतिरेक दृष्टान्त तो मिल गया परन्तु अन्वय दृष्टान्त नहीं है; क्योंकि जिन्दे शरीरके अतिरिक्त और कहीं आत्मा हो नहीं सकती, जिसे अन्वयदृष्टान्त बनावें। अगर किसी जिन्दे शरीरको ही दृष्टान्त रूपमें उपस्थित किया जाय तो वह पक्षके भीतर ही कहलायगा। इससे मालूम हुआ कि यहां अन्वय नहीं है परन्तु इसके पहिले हमें यह भी देख लेना चाहिये

---

१ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि॥ लघीयस्त्रयटीकामें वन्ध्याके पुत्रको व्यतिरेक दृष्टान्त बताया है। प्रमाणार्थो, जीवादिर्द्रव्यपर्यायात्मा प्रमाणार्थत्वात् यो द्रव्य पर्यायात्मा न भवति स न प्रमाणार्थः यथा वन्ध्यास्तनंधयः।

कि यह अनुमान ठीक है या नहीं । इस अनुमान में जिन्दा शरीर पक्ष है उसमें आत्माका सद्भाव सिद्ध करना है इसलिये वह साध्य है । पक्ष और साध्यमें इतना अन्तर है कि पक्ष तो सिद्ध होता है और साध्य असिद्ध होता है । इसलिये माल्म हुआ कि अनुमान करनेवालेको जिन्दे शरीरका पता तो है, परन्तु उसमें आत्माका पता नहीं है । अगर उसे आत्माका पता नहीं है तो उसने कैसे समझा कि यह जिन्दा शरीर है ? जिन्दे शरीरका मतलब या लक्षण आत्मासहित होना है । यह कैसे हो सकता है कि उसे लक्ष्य (जिन्दे शरीर) का पता तो हो और लक्षण (आत्मासहित होना) का पता न हो । इसलिये मानना पड़ेगा कि उसे दोनोंका (लक्ष्य और लक्षण) का पता है । तब कहना चाहिये कि यहां हेतु सिद्धसाधन हेत्वाभास बन गया, क्योंकि इसका साध्य पक्षके समान सिद्ध है । अगर यह कहा जाय कि यह अनुमान उनलोगों (चार्वाक आदि) का खण्डन करने के लिये है जो जिंदा शरीर मानकर आत्माका अस्तित्व नहीं मानते । तो यह कहनाभी ठीक नहीं है क्योंकि उनके मतमें जिन्दे शरीरमें या किसी भी जगह आत्माका सद्भाव सिद्ध करना बाधित है इसलिये उनकी दृष्टिमें यह हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय) कहलाया । अगर हम किसी दूसरे प्रमाणसे उनके प्रमाणका खण्डन करके आत्माका अस्तित्व सिद्ध कर दें तो उन्हें दूसरे प्रमाणसे ही आत्माका सद्भाव मानना पड़ेगा । इसलिये यह अनुमान निरर्थक ही रहेगा । जब वे दूसरे प्रमाणसे आत्माका अस्तित्व स्वीकार करलेंगे तब उनके मतमें भी जिंदाशरीर और आत्मासहित शरीर एक ही बात कहलायगी इसलिये यह हेतु फिर सिद्धसाधन हेत्वाभास कहलाने लगेगा । हां !

अगर इस अनुमान का यह रूप बनाया जाय कि कि " इस शरीरमें आत्मा है क्योंकि प्राण हैं " तो यह अनुमान ठीक कहलायगा लेकिन ऐसी हालतमें इसका अन्वय दृष्टान्त भी इस शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर मिल जायगा ।

अगर यह कहा जाय कि जो लोग वृक्षोंमें जीवन तो मानते हैं लेकिन आत्मा नहीं मानते उनके खण्डनके लिये यह अनुमान बनाया गया है । खैर ! यदि इस रूपमें यह अनुमान उचित भी मानलिया जाय तो यह अन्वयव्यतिरेकी हो जायगा । क्योंकि व्यतिरेकतो मिलताही है । अन्वय भी इसरूपमें मिलेगा कि ' जहां जहां प्राण हैं वहां वहां आत्मा है, जैसे—हम लोगोंका शरीर । कहा जा सकता है कि हम लोगोंका शरीर भी तो जीवित शरीर है इसलिये पक्षके भीतर आगया । उसे दृष्टान्त कैसे बना सकते हैं ? यहां हमें अन्वयदृष्टान्तके लक्षणपर विचार करना चाहिये । जहां साध्य और साधनके रहनेका निश्चय हो उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं । हमें अपने शरीरमें साध्य (आत्मा) साधन (प्राणादि) के होनेका निश्चय है इसलिये इसे दृष्टान्त कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है । अगर हमारा शरीर पक्षके भीतर शामिल किया जायगा तो हमारे शरीरका आत्मा साध्य कहलायगा । और साध्य होता है असिद्ध, इसलिये हमें अपने शरीरमें भी आत्माकी असिद्धि मानना पड़ेगी जो कि ठीक नहीं है । अब बात यह रह गई कि सब शरीरोंको पक्ष बनाया जाय या अपने शरीरोंको छोड़कर बाकी शरीरोंको । यद्यपि सिद्धि तो बाकी शरीरोंमें ही करना है परन्तु सब शरीरोंको पक्ष बनानेमें भी कुछ हानि नहीं है । क्योंकि अपने शरीरमें आत्मा सिद्ध होनेपर भी सब शरीरोंमें असिद्ध है । जैसे किसी जगह दस आदमियोंमें दो

हिन्दुओंका निश्चय हो तो हम यह कहसकते हैं कि वहां दस हिंदुओंका निश्चय नहीं है । इसीतरह कुछ शरीरोंमें आत्माका निश्चय होनेपर भी सब शरीरोंका अनिश्चय कहा जा सकता है जिससे ' सब शरीर ' पक्ष, और ' कुछ शरीर ' सपक्ष बन सकते हैं । इसलिये यहां अन्वयव्यतिरेकी हेतु है । इसीप्रकार " सब परिवर्तन शील है, क्योंकि सत् है " इस अनुमानमें भी हेतु अन्वय व्यतिरेकी है, क्योंकि खरविषाण आदिक व्यतिरेक दृष्टान्त और वस्त्रादि अन्वय दृष्टान्त हैं । अगर खरविषाणादिको असत् होनेसे व्यतिरेक दृष्टान्त और वस्त्रादिको पक्षके अन्तर्गत मानकर अन्वय दृष्टान्त न माना जावे तो इस अनुमानमें हेतु, निरन्वयव्यतिरेकी मानना पड़ेगा । यह चौथा भेद किसीने भी नहीं माना है । जिस प्रकार निरन्वयव्यतिरकी भेद नहीं माना जाता है उसीतरह केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी भेद न मानना चाहिये ।

अनुमानके भेद—अनुमानके मुख्य अंगोंका निरूपण हो चुका है । उनके जितने भेद होंगे वे अनुमानके भी भेद कहे जावेंगे । लेकिन यहां पर दूसरी ही दृष्टिसे अनुमानके दो भेद किये जाते हैं (१) स्वार्थानुमान (२) परार्थानुमान । ज्ञानात्मक अनुमान को स्वार्थानुमान और वचनात्मक अनुमानको परार्थानुमान कहते हैं परार्थानुमानका उपयोग शास्त्रार्थ या बातचीतके समय किया जाता है । इनमें परार्थानुमानको वास्तवमें प्रमाण ही न कहना चाहिये

१ एक सत्त्वेपि द्वयं नास्ति ।

२ ' परीक्षामुख ' में इन भेदोंका जिकर नहीं है परन्तु टीका ग्रन्थों में इनका उल्लेख पाया जाता है । न्यायदर्शनमें भी इनका उल्लेख है । विद्वानोंको इस विषयपर विचार करना चाहिये ।

क्योंकि हम पहिले कह चुके हैं कि वास्तवमें प्रमाण ज्ञानात्मक ही है। हां! प्रमाणका साधक होनेसे अन्य वस्तु भी उपचारसे प्रमाण मानी जा सकती है इसीलिये यहां शब्दात्मक परार्थानुमान भी प्रमाणका भेद माना गया।

अनुमानके अंग—अनुमानके विषयमें हमने अभी तक तीन चीजोंका उल्लेख किया है (१) पक्ष (२) साध्य (३) हेतु। ये तीनों अनुमानके अंग कहलाते हैं। इन्हीं तीनोंमें अनुमान रूपी शरीर बटा हुआ है। अगर हम तीनके बदले दो अंग मानें तो भी काम चल सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि किसी एक अंगको अलग कर देना चाहिये, क्योंकि उपर्युक्त तीन चीजें अनुमानमें इतनी आवश्यक हैं कि उनमें काट छांट की गुंजाइश नहीं है। तीन अंगके दो अंग बनानेके लिये यहां सिर्फ इतना ही किया जायगा कि पक्ष और साध्यको एक ही अंग मान लेंगे। इसका कारण यह है कि पक्ष, धर्मी कहलाता है और साध्य, धर्म कहलाता है। धर्म और धर्मीको एक ही अंग कहें तो कुछ अनुचित नहीं है। इसतरह अनुमानके दो अंग रहे, पक्ष और हेतु। अथवा अनुमानके दो अंग, दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये साध्य और साधन[1] हैं। अनुमान का काम है एक वस्तु (साधन)

---

१ बोलचालमें साधन और हेतु, दोनोंका एकही मतलब समझा जाता है। लेकिन जब परार्थानुमानके अंगोंमें हेतुका उल्लेख किया जाता है तब वचनात्मक (साधनके वचन) को हेतु कहते हैं। इसीतरह दृष्टान्त और उदाहरणका भी बोलचालमें एक ही मतलब लिया जाता है परन्तु परार्थानुमानके अंगोंमें उदाहरणका अर्थ होता है 'दृष्टान्त का वचन' अर्थात् व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्तके वचनको उदाहरण कहते हैं।

से दूसरी (साध्य) का ज्ञान करा देना । इसलिये ये दो ही अनुमान के अंग कहलाये । लेकिन यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि साध्यके भीतर पक्ष शामिल है, क्योंकि हम पहिले कह चुके हैं कि अनुमानमें धर्म सहित धर्मी साध्य है, न कि अकेला धर्म । धर्म और धर्मीको जब हम शब्दोंमें कहते हैं तब वह परार्थानुमानका अंग कहलाता है । इसका नाम '**प्रतिज्ञा**' है । यह नाम बिलकुल सार्थक है क्योंकि इस वाक्यके द्वारा किसी वस्तुको सिद्ध करने की प्रतिज्ञाकी जाती है । इस तरह स्वार्थानुमानके पक्ष और हेतु, तथा परार्थानुमानके प्रतिज्ञा और हेतु, ये दो अंग कहलाए । कोई कोई, परार्थानुमानके उदाहरण, उपनय और निगमन ये तीन अंग और भी मानते हैं इस प्रकार उनके मतसे पांच अंग हैं । तीन का स्वरूप आ चुका है । हेतुके दुहराने को **उपनय** कहते हैं । जैसे–इस पर्वतमें अग्नि है क्योंकि धुआँ है जहां धुआँ है वहां अग्नि है । जैसे–रसोईघर, जहां अग्नि नहीं वहां धूम नहीं, जैसे–तालाब । " पर्वतमें धुआँ है " यह उपनय है । प्रतिज्ञाको दुहराना **निगमन** कहलाता है जैसे " इसलिये इस पर्वतमें अग्नि है " अगर सुनने वाला अल्पबुद्धि हो तो पांचोंका प्रयोग करना अनुचित नहीं कहा जा सकता । किसी किसीने चार और तीन अवयव भी मानें हैं । इस विषयमें कोई एकान्त पकड़ना अनुचित है । श्रोता की जैसी योग्यता हो उसीके अनुसार प्रयोग करना उचित है । यहां इतना कहदेना आवश्यक है कि उदाहरण उपनय निगमनका प्रयोग, समझनेके सुभीते के लिये है । वास्तवमें ये अनुमानके अंग नहीं हैं । अंगका मतलब है हिस्सा । उदाहरण आदिक अनुमानके हिस्से नहीं हैं किन्तु सहायक मात्र हैं । इसलिये

उदाहरण आदिकी समय समयपर आवश्यकता होने पर भी ये उसके अंग नहीं हैं। जैसे–हाथ पैर आदि हमारे शरीरके अंग हैं वैसे पक्ष हेतु अनुमानके अंग हैं। जिसप्रकार वस्त्र आदि हमारे लिये आवश्यक होनेपर भी अंग नहीं हैं उसी प्रकार उदाहरण आदिभी अंग न समझना चाहिये।

अनुमानके इस लम्बे विवेचनसे मालूम हुआ होगा कि यह एक जबर्दस्त प्रमाण है। इसकी उपयोगिता भी बहुत अधिक है। लोकव्यवहारमें अनुमान शब्दका प्रयोग अंदाज या संभावना अर्थमें भी करते हैं। जैसे "मेरा अनुमान है कि वह आज आयगा" इसका मतलब है आनेकी सम्भावना। ऐसे प्रयोगको ध्यानमें रख कर न्यायशास्त्र से अपरिचित लोग अनुमान की प्रामाणिकता में सन्देह करने लगते हैं। परन्तु यह सन्देह व्यर्थ है। क्योंकि अनुमान एक जबर्दस्त हेतुपर अवलम्बित है। जो जबर्दस्त हेतु पर अवलम्बित नहीं है उसे अनुमानाभास कहना चाहिये। अनुमान कभी कभी ठीक नहीं उतरता, इसका कारण है कि हमें हेत्वाभासमें हेतुका भ्रम हो जाता है। इसप्रकारका भ्रम अनुमानमें ही क्या, सभी तरह के प्रमाणोंमें सम्भव है। जिस प्रकार कभी कभी हमारी आँखें तक हमें धोखा दे जाती हैं इसपरभी सभी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मिथ्या नहीं कहे जा सकते, उसीतरह अनुमानको भी मिथ्या नहीं कह सकते।

आगम (शाब्द)—किसी प्रामाणिक (आप्त) पुरुषके वचन आदिसे जो ज्ञान होता है उसे आगम अथवा शाब्द कहते हैं। धार्मिक ग्रंथोंमें आप्तके तीन विशेषण बताये जाते हैं। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी। हमारे ऊपरके कहे गये लक्षणमें भी ये

तीनों विशेपण घटते हैं, क्योंकि जब कोई पुरुप हमारी बातका ठीक ठीक उत्तर देता है तब वह हितोपदेशी कहलाता है। हमारे प्रश्नके उत्तर के विपयमें उसे पूरी जानकारी है इसलिये वह सर्वज्ञ है। हमारे साथ उसे कोई कपाय (रागद्वेप) आदि नहीं है इसलिये वह वीतराग है। इन तीन विशेपणोंमें यदि अन्तका विशेपण हीं कहा जाय तो भी काम चल सकता है, क्योंकि हितोपदेशीके भीतर ही वीतराग और सर्वज्ञ शामिल है। जो वीतराग और सर्वज्ञ नहीं है वह हितोपदेशी भी नहीं हो सकता है[२]। बात यह है कि सच बोलनेके लिये दो बातोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। ज्ञान और अकपायता। जब मनुष्यमें ज्ञानकी कमी होती है या कोई कपाय रहती है तभी वह झूठ बोलता है। जैसे—किसी अपरिचित स्टेशनपर पहुँच कर आप किसी गाड़ीवालेसे पूछें कि अमुक स्थान कितनी दूर है तो वह अधिक भाड़ेके लोभसे पासके स्थानको भी दूरका बता देगा। यहां लोभकपायके वश होकर झूठी बात बोली

---

१ धर्म शास्त्रोंमें जो वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी की व्याख्याकी जाती है; वह 'पूर्णआप्त' के लिये की जाती है लेकिन न्यायशास्त्रमें तो मामूली वार्तालापको भी आगम कहा जा सकता है इसलिये यहां उसीके अनुकूल इन शब्दोंकी व्यापक व्याख्या की जाती है। न्याय शास्त्रमें लिखा है "यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः" अर्थात् जो मनुष्य जहां पर धोखा नहीं देता है वह मनुष्य वहांपर आप्त कहा जाता है।

२ धर्म ग्रन्थोंमें हितोपदेशीके स्वरूपमें वीतरागता और सर्वज्ञता कामी उल्लेख करते हैं 'परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती। सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते' यहांपर "विरागः" और "सर्वज्ञः" ये दोनों विशेपण दिये हैं।

गई है। अपने शत्रुसे भी कहना कि 'आपकी हानि होनेसे मुझे सबसे अधिक कष्ट हुआ' यह मायाकषाय की झूठ कहलायी। एक शाकभोजी मनुष्य भी जब किसीसे कहता है तेरा खून पीलूंगा यह क्रोध सम्बन्धी झूठ बात है। 'वह मेरे साम्हने क्या चीज है चाहूं तो चुटकीसे मसलदूं' यह मान सम्बन्धी झूठ है। एक आदमी चला जाता है किसीने मजाक उडाने के लिये कहा तेरा कपड़ा गिर गया यह हास्य सम्बन्धी झूठ है। पुत्रके भरपेट भोजन करलेने परभी माता कहती है तूने तो अभी कुछ भी नहीं खाया, खानेवाले तो इतना एक कौर में खाजाते हैं यह रति (प्रेम) सम्बन्धी झूठ है। किसी आदमीको कोई चीज खानेमें अच्छी नहीं मालूम होती तब वह उसके विषयमें कहता है कि वह चीज मनुष्योंके खाने लायक ही नहीं है यह अरति सम्बन्धी झूठ है। कोई मनुष्य रंजसे कहता है 'इससे तो मर जाना अच्छा' यह शोक सम्बन्धी झूठ है। लड़का कोई उपद्रव करता है और डरके मारे कहता हैं 'मैं तो वहां गया भी नहीं' यह भय सम्बन्धी झूठ है। जगह रहनेपर भी किसी गन्दे मनुष्यसे हम कहते हैं 'मत आओ! यहां जगह नहीं है, यह जुगुप्सा [घृणा] सम्बन्धी झूठ है। काम वासना के वशमें होकर झूठ बोलना वेद सम्बन्धी झूठ है। इन उदाहरणोंसे मालूम होगा कि जब वक्तामें किसी कषायकी सम्भावना अथवा निश्चय हो तब उसकी बातका विश्वास न करना

---

१ बोल चालमें रति शब्दका 'गँदला प्रेम' अर्थ किया जाता है। लेकिन शास्त्रोंमें रतिशब्दका अर्थ प्रेम किया है। जिसको बोल चालमें गँदला प्रेम कहते हैं उसे शास्त्रोंमें वेदकषाय (स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद) कहा है।

चाहिये । ऐसा भी हो सकता है कि उसमें कषाय तो हो लेकिन जो बात वह कहरहा है उसके साथ उस कषायका कुछ सम्बन्ध न हो, ऐसी हालत में कषाय रहनेपर भी प्रामाणिकता में कोई अड़चन नहीं है । जिस प्रकार मनुष्य कषायेंके वशमें होकर झूठ बोलता है उसी प्रकार अज्ञान [मिथ्याज्ञान] के वशमें होकर भी झूठ बोलता है । अमुक ग्राम यहां से कितनी दूर है ऐसा पूछने पर किसीने कह दिया आठ मील है यद्यपि था दस मील, लेकिन उसे आठ मीलका ही निश्चय था, यह अज्ञान सम्बन्धी झूठ कहलाता है । जहां इन दोनों कारणोंमेंसे एक भी कारण न होगा वहां कोई मिथ्याभाषण नहीं कर सकता । जैसे—हमने किसी स्टेशन मास्टरसे पूछा कि अमुक स्थानके टिकिटका दाम क्या है ? इस पर जो वह उत्तर देगा उसके ऊपर हम विश्वास कर लेंगे, क्योंकि टिकिटके दाम बतलाने में अज्ञान या कषायकी सम्भावना नहीं है । इस ज्ञानको हम आगम अथवा शाब्द प्रमाण कहेंगे । कहा जा सकता है कि बहुत कुछ जांच करने परभी किसीके सच बोलनेका विश्वास करना कठिन ही है, इसलिये आगमको प्रमाण ही न माना जावे तो क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि अगर आगम अप्रमाण माना जावे तो उसका अवलम्बन लेकर किसी निश्चित रूपमें काम न करना चाहिये । परन्तु देखा जाता है संसारका बहुतसा व्यवहार आगमके सहारे चलता है । अगर आगमको प्रमाण न माने तो सब मनुष्योंको बोलचाल बन्द कर देना पड़ेगा, इस हालतमें एक दिन भी काम चलना मुश्किल है । रही अप्रमाणता की सम्भावना, सो यह तो सभी प्रमाणोंके

साथ है। प्रत्यक्ष भी इस सम्भावनासे खाली नहीं है इसलिये इसमें सिर्फ आगमका ही क्या अपराध है ?

प्रश्न—शब्दके द्वारा हमें अर्थका ज्ञान कैसे होता है ?

उत्तर—संकेतसे। जब किसी बालकके साम्हने कोई कहता है 'घड़ा लाओ' और कोई आदमी घड़ा लेकर आता है तब वह बालक उस वाक्य का अर्थ समझ जाता है। अभी वह वाक्यका अर्थ समझा है 'घड़ा' और 'लाओ' इस पदोंका जुदा जुदा अर्थ नहीं समझा। दूसरी वार जब किसीने कहा 'पुस्तक लाओ' और कोई आदमी पुस्तक लाया। तब बालक सोचता है कि यहां क्रिया तो एकसी रही है परन्तु चीज वदल गई है, इससे वह लाओ क्रिया पदका, पुस्तक तथा घड़ा संज्ञापदका अलग अलग अर्थ समझ जाता है। धीरे धीरे वह अन्य तरीकोंसे भी संकेत ग्रहण करने लगता है यही संकेत आगम प्रमाणका मुख्य या विशेष साधक है।

प्रश्न—जिन शब्दोंमें संकेत ग्रहण किया जाता है वे शब्द क्या सदा बने रहते हैं ? यदि बने रहते हैं तो सुन क्यों नहीं पड़ते ? यदि नहीं बने रहते हैं तो एकका संकेत दूसरे में कैसे काम आता है।

उत्तर—शब्द सदा नहीं वने रहते, किन्तु सदृशतासे एक शब्दका संकेत अनेक जगह काममें आता है। जैसे—एक वार एक गाय को देखकर अन्य गायोंको भी हम गाय समझते हैं उसी प्रकार एक जगहका संकेत भी सदृशता के कारण अनेक जगह काम आता है।

प्रश्न—क्या आगम प्रमाण वचनसे ही होता है ?

उत्तर—नहीं । जिन जिन कार्योंसे मनके भाव दूसरों पर प्रगट किये जाते हैं वे सब आगम के साधक हैं । इसलिये अगर कोई आप्त, हाथ आदिके इशारेसे कोई बात समझाता है तो उस इशारेसे ज़ो हमें ज्ञान होगा वह भी आगम प्रमाण कहलायगा। इसीप्रकार पुस्तक आदि पढ़नेसे जो ज्ञान होता है वह भी आगम प्रमाण है ।

स्मृतिसे लेकर आगम तक सभी प्रमाण, परोक्षके भीतर शामिल किये जाते हैं इसलिये प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदोंमें सकल प्रमाणोंका सङ्ग्रह हो जाता है । कोई कोई लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य[1], इस प्रकार आठ प्रमाण मानते हैं । आदिके चार प्रमाणों के स्वरूपका वर्णन हो चुका है । बाकी चारका यहां लिख देते हैं जिससे मालूम होजाय कि ये आठ भेद कहां तक ठीक हैं ।

एक चीजके ज्ञानसे जहां दूसरी चीजकी कल्पना करना पड़े या एक बातके कहनेसे दूसरी बात आपसे आप सिद्ध हो जाय उसे **अर्थापत्ति**[2] कहते हैं । अनुमानसे अर्थापत्तिमें दो विशेषताएँ मानी जाती हैं । इसमें पक्षधर्म नहीं होता और अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान भी पहिलेसे नहीं होता अगर पहिलेसे हो भी तो उसकी कुछ उपयोगिता नहीं रहती[3] । जैसे नदीके पूरको देखकर कल्प-

---

१ पौराणिक ।

२ अर्थादापद्यते इति अर्थापत्तिः । सत्सु घनेषु वृष्टिरित्युक्तेऽसत्सु घनेषु वृष्टिर्न भवति ।

३ अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते । न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ।

ना करना कि ऊपर पानी अवश्य बरसा होगा । इस अर्थापत्तिमें पक्ष धर्म नहीं है क्योंकि जहां की वर्षाकी कल्पना की गई है वहां पूर नहीं देखा गया है । वहां अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान भी पहिलेसे नहीं था । विना वर्षाके पूर आ नहीं सकता इसीसे तुरंत यह कल्पना की गई है । जिस प्रमाणके द्वारा किसी वस्तुका अभाव जाना जावे उसे **अभावप्रमाण** कहते हैं । जिस प्रमाणके द्वारा किसी बात की सम्भावना की जाय उसे **संभव[1] प्रमाण** कहते हैं । जैसे—वह क्षत्रिय है तो वीर भी होगा । लोकप्रवादकी परम्परासे जो हमें ज्ञान होता है उसे **ऐतिह्य** प्रमाण[2] कहते हैं ।

इनमें पीछेके दो प्रमाण तो ऐसे हैं जिनमें प्रामाणिकता का निश्चय भी नहीं हो सकता । इसलिये इनके आधारपर निःसंशय प्रवृत्ति भी नहीं होती । शाब्द प्रमाणमें तो वक्ताकी परीक्षा करके उसकी बात का विश्वास किया जाता है, लेकिन ऐतिह्यमें कोई एक वक्ता नहीं होता जिसकी कि परीक्षा की जाय । हां ! जिस प्रकार संशय अप्रमाण होने पर भी सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक होता है उसी तरह इसे भी समझना चाहिये । अगर लोकप्रवाद कुछ मजबूत आधार पर खड़ा हुआ हो तो यह शाब्द प्रमाणके अन्तर्गत हो जाता है । जिस प्रकार शाब्दमें किसी मनुष्यको आप्त मानकर उसकी बात पर विश्वास किया जाता है उसी प्रकार यहां अनेक लोगोंको आप्त मानकर उनकी बातोंपर विश्वास किया जाता है । इसलिये यह शाब्दके बाहर

---

१ सम्भवो भूयःसहचराधीनज्ञानम् । यथा सम्भवति ब्राह्मणे विद्या ।

२ इतिहोचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकम्प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम् ।

नहीं जा सकता । सम्भवमें भी संशयकी बहुत मात्रा मिली रहती है । यदि कहीं पर संशय न हो तो उसे अनुमान कहना चाहिये । जैसे, अनुमानमें साध्य साधन का अविनाभाव सम्बन्ध होता है उसी तरह सम्भवमें भी होता है । जैसे—उपर्युक्त उदाहरणें क्षत्रिय और वीरताका अविनाभाव है इसलिये क्षत्रियरूप साधनसे वीरतारूप साध्यका अनुमान किया जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि सम्भव और ऐतिह्यमें संशयकी मात्रा होनेसे प्रमाणता नहीं है । यदि इनमें संशय न हो तो ये अनुमान और आगम प्रमाणमें शामिल किये जाते हैं । इसीलिये किसी किसीने[1] आठकी जगह कुल छः प्रमाणही माने हैं । परन्तु इसमें भी अगर विचार किया जाय तो अभावको जुदा प्रमाण माननेकी बिलकुल जरूरत नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अभाव जाना जा सकता है । विरुद्धोपलब्धि और अविरुद्धानुपलब्धि रूप हेतुओंसे अभाव का ही अनुमान किया जाता है । इस बातको हम पहिले भी कह आये हैं । इसलिये अभाव प्रमाणको माननेकी जरूरत नहीं है । इसलिये किसी[2] किसीने कुल पांचही प्रमाण माने हैं । परन्तु इनमें भी अगर विचार किया जाय तो अर्थापत्तिको जुदा प्रमाण मानना कुछ ठीक नहीं मालूम होता । क्योंकि वह अनुमानके अन्तर्गत हो जाता है । यद्यपि अर्थापत्तिमें पक्षधर्म नहीं रहता फिर भी यह अनुमान ही है । अनुमानमें पक्षधर्म रहना कोई आवश्यक नहीं है । पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतुवाले अनुमानोंमें

---

१ भाट्ट ।

२ प्राभाकर ।

भी पक्षधर्म नहीं रहता। पक्षधर्म हो या न हो परन्तु जहां साधनसे साध्यकी सिद्धिकी जायगी वह अनुमान कहलायगा। अर्थापत्तिमें भी साधनसे साध्यकी सिद्धिकी जाती है इसलिये वह अनुमान ही है। अर्थापत्तिको अनुमानसे भिन्न करनेकेलिये यह भी कहा जाता है कि उसमें पहिलेसे व्याप्तिका ग्रहण नहीं किया जाता। लेकिन यह कारण भी जोरदार नहीं है, क्योंकि व्याप्ति-ग्रहणकी आवश्यकता दोनों जगह है, भले ही वह वर्षों पहिले हो या उसीसमय, अनुमानको इन बातोंसे कोई मतलब नहीं। हां! अगर अर्थापत्ति, व्याप्तिग्रहणके विना पदार्थको बतावे तो वह अनुमानसे वाहिर हो सकती है। परन्तु ऐसी हालतमें वह प्रमाणसे भी वाहर हो जावेगी। इसतरह प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द और उपमान ये चार[1] ही प्रमाण रहजाते हैं। लेकिन इनके भीतर स्मृति, एकत्व आदि प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाणोंका समावेश नहीं हो सकता इसलिये सबके स्थानपर एक परोक्ष प्रमाण मानना ठीक होगा जिसमें सबका समावेश होसके। जो लोग[2] तीन ही प्रमाण मानते हैं या प्रत्यक्ष और अनुमान दो[3] ही मानते हैं उनको शाब्द और उपमानको अनुमानके भीतर करनेकेलिये वहुतसी खींचातानी करना पड़ती है। उपभेदोंके अनुसार अथवा पुनरुक्ति करके प्रमाणोंकी संख्या जितनी चाहे बढ़ायी जावे परन्तु मूलभेद तो प्रत्यक्ष और परोक्ष ये ही उचित हैं।

---

१ नैयायिक लोग चार प्रमाण मानते हैं।

२ सांख्य।

३ बौद्ध और वैशेषिक।

तृतीय अध्याय ।

प्रमाणाभास ।

जो अपने विषयको सत्य और निश्चित रूपमें सिद्ध न कर सके उसे **प्रमाणाभास**[1] कहते हैं। जैसे–संशय विपर्यय आदि। विरोधी अनेक पक्षोंके ज्ञानको **संशय**[2] कहते हैं। संशयका मूलरूप यही है कि उसमें सामान्य धर्मका ज्ञान तो रहता है लेकिन विशेषका नहीं रहता परन्तु उसके जानने की इच्छा रहती है। जैसे—यह सर्प है या रस्सी? सर्प भी लम्बा होता है रस्सी भी लम्बी होती है, दोनोंका समान धर्म–लम्बापन–हमें दिख रहा है, लेकिन सर्प और रस्सीके विशेष चिह्न हमें दिख नहीं रहे हैं इसलिये हमारा ज्ञान दोनों ओर झुक रहा है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि वह रस्सी भी हो और सर्प भी हो, यह तो निश्चित है कि वह कोई एक ही चीज है, इसलिये हमारा ज्ञान अनिश्चित रहता है। इसे संशय कहते हैं। इसी तरह जब दो या दो से अधिक विरोधी बातें सुनते हैं तब भी संशय होता है। जैसे–किसीनें कहा जीव नित्य है दूसरेने कहा अनित्य है तीसरे को सन्देह होता है। उसे दोनों पक्षोंमें द्रव्यत्व रूपसे समानता दिखती है बाकी विशेष (नित्यत्व अनित्य) में सन्देह रहता है। जब अपेक्षा-भेदसे एक ही वस्तुमें नित्यत्व और अनित्यत्व सिद्ध कर दिया जाता है तब वे विरोधी धर्म नहीं रहते इसलिये संशय भी पैदा नहीं होता। विपरीत पक्षके निश्चयको **विपर्यय** कहते हैं

---

१ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्।

२ विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः।

जैसे–सांपको रस्सी समझ लेना। जिस ज्ञानका विषय दूसरे जबर्दस्त प्रमाणसे बाधित हो उसे भी प्रमाणाभास कहते हैं। इसी तरह और भी अनेक प्रमाणाभास[1] समझना चाहिये। सामान्य रूपसे जो प्रमाणाभास (संशयादि) कहे गये हैं वे विशेष प्रमाणों (प्रत्यक्ष अनुमान आदि) के लिये भी कहे जा सकते हैं। साथ ही विशेष प्रमाणोंके प्रमाणाभास जुदे भी हैं।

जो प्रत्यक्षके समान मालूम होता है, किन्तु प्रत्यक्ष नहीं है, उसे **प्रत्यक्षाभास** कहते हैं। जैसे–एकत्व प्रत्यभिज्ञान, है तो परोक्ष, लेकिन प्रत्यक्षके समान मालूम होता है इसीलिये प्रत्यक्षाभास है। भ्रमसे अनेक लोगोंने उसे प्रत्यक्षके भीतर शामिल करने की कोशिश भी की है। इसीप्रकार 'यह निकट है यह दूर है' इत्यादि ज्ञान भी परोक्ष है तौभी प्रत्यक्षके समान मालूम होता है इसलिये यह भी प्रत्यक्षाभास है।

जो प्रत्यक्ष होनेपर भी परोक्षसा मालूम हो उसे **परोक्षाभास** कहते हैं। जैसे–प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष करता है फिर भी अनेक लोग उसे परोक्ष मानते हैं। अथवा जैसे वायुका स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्ष होनेपर भी कोई कोई उसको परोक्ष मानते हैं।

जिस रूपमें जो वस्तु जानी गई है उससे किसी भिन्न रूपमें उसका स्मरण करना या उसमें सन्देह हो जाना आदि **स्मरणाभास** है। जैसे–देवदत्तकी स्मृति यज्ञदत्तके रूपमें करना। सदृशको

---

१ अनध्यवसाय भी प्रमाणाभास है। जैसे–रास्तेमें चलते समय कंकड़ आदिका कुछ भान होने पर भी ठीक ठीक भान नहीं होता "किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्"।

एक समझना, एकको सदृश समझना **प्रत्यभिज्ञानाभास** है। असम्बन्धमें सम्बन्धकी कल्पना करलेना **तर्काभास** है। जैसे—किसी गड्ढेमें पानी देखकर "जहां जहां गड्ढा है। वहां वहां पानी है" इत्यादि।

अनुमानका प्रकरण लम्बा है। इसलिये अनुमानाभास भी बहुत हैं। अनुमानके दो अंग बतलाये थे पक्ष और हेतु। पक्षमें साध्य भी शामिल है। इष्ट अबाधित असिद्ध ये साध्यके विशेषण हैं इसलिये साध्यका अनिष्ट बाधित और सिद्ध होना **पक्षाभास** कहा जायगा। कोई सांख्य मतका पक्षलेकर पदार्थोंकी उत्पत्ति सिद्ध करनेके लिये अनुमान बनावे तो यह अनिष्ट कहलायगा। क्योंकि—सांख्य दर्शनमें, पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं, अभिव्यक्ति मानी गई है।

जिस का हेतुके रूपमें प्रयोग तो किया जाय लेकिन वह साध्यकी सिद्धि न कर सके उसे **हेत्वाभास** कहते हैं। हेत्वाभास चार तरहके हैं असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिञ्चित्कर।

जो हेतु सिद्ध न हो उसे **असिद्ध हेत्वाभास** कहते हैं। साध्यसम[1] भी इसी का नाम है। हेतु दो तरहसे असिद्ध होता है। या तो उसके अभावका निश्चय हो, अथवा सद्भावमें सन्देह हो। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि आंखोंसे दिखता है। (चाक्षुष है) शब्द आंखोंसे दिख नहीं सकता, इसलिये यह असिद्ध है। इसको **स्वरूपासिद्ध** कहते हैं। क्योंकि शब्द का 'आंखोंसे दिखना' यह स्वरूप ही असिद्ध है। जब हेतुके सद्भावमें सन्देह होता है तब उसे **निश्चयासिद्ध** कहते हैं। जैसे—धुआँके न

---

१ साध्य असिद्ध होता है। इसलिये जो हेतु असिद्ध होता है उसको साध्यसम (साध्यसमान) कहने लगे हैं।

दिखनेपर भी धुआँकी सम्भावना मात्रसे अनुमान करना कि वहां अग्नि है क्योंकि धुआँ है। असिद्धके इन दो भेदोंमें ही सभी भेद आजाते हैं फिर भी असिद्धके विशेष भेदोंका बहुत प्रयोग होता है इसलिये यहां उनका उल्लेख किया जाता है। जहांपर हेतुके विशेष्य और विशेषण दो भागोंमेंसे एक भाग असिद्ध होता है वहां वह **विशेष्यासिद्ध** या **विशेषणासिद्ध** कहलाता है। जैसे— यह पुतला स्वयं चल सकता है क्योंकि पैरवाला प्राणी है. यहां हेतु में विशेष्य असिद्ध है क्योंकि पुतलाप्राणी नहीं है। अगर हेतुको उलटा करदें तो विशेषणासिद्ध हेतु होजायगा जैसे—यह पुतला स्वयं चल सकता है, क्योंकि प्राणी होकर भी पैरवाला है। यहां पर 'प्राणी' विशेषण बन गया है जोकि असिद्ध है। कहीं कहीं विशेष्य और विशेषण दोनों असिद्ध होते हैं। जैसे—यह संदूक स्वयं चल सकता है क्योंकि पैरवाला प्राणी है यह **विशेष्यविशेषणासिद्ध** कहलाया। क्योंकि संदूक न तो पैरवाला है न प्राणी है। जहां हेतुका आधार ही सिद्ध नहीं होता उसे **आश्रयासिद्ध** कहते है, जैसे—ब्रह्म लोकमें बड़ी शान्ति है, क्योंकि वहां अशांत प्राणीही नहीं रहते। यहां हेतुका आधार ब्रह्मलोक ही सिद्ध नहीं है। जो हेतु किसी दूसरे आधारमें रहनेके कारण साध्यकी सिद्धि न कर सके उसे **व्याधिकरणासिद्ध** कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि घड़ा कृत्रिम है। यहां कृत्रिम हेतु अनित्यताको सिद्ध तो करता है लेकिन कृत्रिमता तो घड़ेमें है उससे शब्दकी अनित्यता कैसे सिद्ध हो सकती है? यहां इतनी बात ख्यालमें रखना चाहिये कि व्यधिकरण होनेसेही हेतु असिद्ध नहीं होता। पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतु व्यधि-

करणासिद्ध नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे अपने साध्य की सिद्धि करते हैं। जो हेतु पक्षके एक देशमें ही रहता है उसे **भागासिद्ध** कहते हैं। जैसे–शब्द अनित्य है क्योंकि प्राणियोंके प्रयत्नसे पैदा होता है। यहां पर शब्द पक्ष है लेकिन सभी शब्द प्राणियोंके प्रयत्नसे पैदा नहीं होते इसलिये यह हेतु पक्षके एक भागमें रहा और इसीलिये भागासिद्ध कहलाया। भागासिद्धसे आंशिक सिद्धि होती है इसलिये अगर आंशिक सिद्धिसेही काम चलता हो तो इसे हेत्वाभास नहीं कहना चाहिये। जैसे–उपर्युक्त अनुमानमें यदि वक्ता कहे कि "सभी शब्द न सही किन्तु कुछ शब्द तो इस हेतुसे अनित्य सिद्ध हुए, बस! मैं तो शब्दको अनित्य सिद्ध करना चाहता हूं भले ही वह एक ही शब्द क्यों न हो?" ऐसी हालतमें भागासिद्ध दोष निर्बल हो जाता है। कोई हेतु निरर्थक विशेष्य अथवा निरर्थक विशेषणवाले होनेसे भी असिद्ध विशेष कहलाते हैं। जहां विशेष्य असिद्ध हो उसे **व्यर्थ विशेष्यासिद्ध** हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–परमाणु अनित्य हैं क्योंकि कृत्रिम होकर भी सामान्य वाले हैं। यहां पर परमाणुकी कृत्रिमता तो असिद्ध है और उसे सामान्यवाला बतलाना निरर्थक है क्योंकि परमाणुकी अनित्यताके साथ सामान्यका कुछ सम्बन्ध नहीं है और न इससे कृत्रिमतामें कुछ खासियत आजाती है। यहांपर सामान्यवालापनको कृत्रिमताका विशेष्य बनादिया था इसलिये यह हेतु विशेष्यासिद्ध है। अगर इसी हेतुके विशेष्यको विशेषण और विशेषणको विशेष्य बनादें तो हेतु **व्यर्थविशेषणासिद्ध** कहलाने लगेगा, क्योंकि ऐसी हालतमें व्यर्थ पड़ने वाला सामान्यवालापन विशेषण बन जायगा।

हेतुमें अन्योन्याश्रय, चक्रक, और अनवस्था दोष भी लगाये जाते हैं। इन दोषोंके प्रयोगसे हेतु असिद्ध हो जाता है इसलिये इन्हें भी असिद्ध हेत्वाभासके भीतर रख सकते हैं। जहांपर हेतुको सिद्ध करनेके लिये दूसरा हेतु दिया जाय और दूसरे हेतुको सिद्ध करनेके लिये फिर पहिला ही हेतु उपस्थित किया जाय उसे **अन्योन्याश्रय** दोष कहते हैं। अथवा जहां हेतुको सिद्ध करनेके लिये साध्य ही हेतु बना दिया जाय उसे **अन्योन्याश्रय** दोष कहते हैं। जैसे—आकाश अनित्य है, क्योंकि कार्य है। यहां आकाशकी कार्यता असिद्ध है इसलिये इसे सिद्ध करनेको अनुमान वनाया 'आकाश कार्य है क्योंकि अनित्य है'। इसतरह यहां पर अनित्यताकी सिद्धि कार्यतासे और कार्यताकी सिद्धि अनित्यतासे की जाती है। पहिले अनुमानमें अनित्यता साध्य थी और कार्यता हेतु, दूसरे अनुमानमें कार्यता साध्य हो गई और अनित्यता हेतु, इसलिये दोनोंकी सिद्धि न होसकी और यहां अन्योन्याश्रय (परस्पराश्रय—इतरेतराश्रय) दोष कहलाया। जहांपर तीनसे अधिक हेतुओं की सिद्धि एक दूसरेके ऊपर अवलम्बित हो जाती है उसे **चक्रक** दोष कहते हैं। जैसे—आकाशमें रूप है क्योंकि स्पर्श है, आकाशमें स्पर्श है क्योंकि गंध है, आकाशमें गंध है क्योंकि रूप है, यहांपर रूपकी सिद्धि स्पर्शसे, स्पर्शकी सिद्धि गंधसे, गंधकी सिद्धि रूपसे की गई है; लेकिन इसतरहसे तीनों ही असिद्ध हो जाते हैं। जहांपर उत्तरोत्तर नयी नयी झूठी कल्पनाएँ करना पड़ें और कल्पनाओंका अन्त न हो उसे **अनवस्था**[1] दोष कहते हैं। जैसे—यह पृथ्वी है क्योंकि इसमें पृथ्वीत्व

---

१ अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था ।

है, इसमें पृथ्वीत्व है क्योंकि पृथ्वीत्वत्व है। इस प्रकार नये नये मिथ्याधर्मों की कल्पना करना अनवस्था है। इन तीनों दोषोंका प्रयोग कार्यकारण लक्ष्यलक्षण आदिमें भी होता है। जैसे—यह घोड़ा किसका है? जिसका में नौकर हूं। तू किसका नौकर है? जिसका यह घोड़ा है। यह अन्योन्याश्रय दोष कहलाया। अगर इसीको तीन या उससे अधिक प्रश्नों पर अवलम्बित करदें तो चक्रक दोष हो जायगा। जैसे—यह किसका घोड़ा है? जिसका मैं नौकर हूं। तू किसका नौकर है? जो इस गांवमें सबसे बड़ा धनिक है। इस गांवमें सबसे बड़ा धनिक कौन है? जिसका यह घोड़ा है। यह चक्रक दोष कहलाया। जीव किसे कहते हैं? जिससें जीवत्व हो। जीवत्व किसे कहते? जिसमें जीवत्वत्व हो। जीवत्वत्व किसे कहते? जिसमें जीवत्वत्वत्व हो। यहां पर 'त्व' लगा लगाकर नये नये धर्मोंकी कल्पना की जाती है। ऐसी कल्पनाओंका अन्त भी नहीं है इसलिये इसे अनवस्था दोष कहते हैं॥ जहां नयी नयी बातकी कल्पना तो करना पड़े परन्तु वह कल्पना प्रामाणिक (सत्य) हो वहांपर अनवस्थादोष नहीं माना जाता। जैसे—हम अपने पितासे, हमारा पिता हमारे आजासे पैदा हुआ है ऐसी पितृपरम्परा अनादि कालसे आरही है इसे अनवस्था दोष नहीं कह सकते। क्योंकि यह पितृपरम्परा प्रामाणिक (अनुमान प्रमाणसे सिद्ध) है। इसी तरहवृक्षबीजकी संतान आदिमें भी अनवस्था दोष न समझना चाहिये।

जिस हेतुका अविनाभाव सम्बन्ध, साध्यसे विरुद्धके साथ निश्चित हो उसे **विरुद्ध[1] हेत्वाभास** कहते हैं। जैसे—शब्द,

---

१ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः। साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः।

अपरिवर्तनशील है क्योंकि उत्पत्तिवाला है । यहाँ उत्पत्तिकी व्याप्ति परिवर्तनशीलता के साथ है जोकि साध्यसे विरुद्ध है, इसलिये यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाया । विरुद्ध हेत्वाभास सपक्षमें कभी नहीं रह सकता, और पक्ष भी विपक्षके समान बन जाता है, इसलिये उसका पक्षमें रहना भी विपक्षमें रहनेके समान है ।

जिस हेतुकी व्याप्ति साध्यके विरुद्धके साथ भी हो उसे **अनैकान्तिक (सव्यभिचार=व्यभिचारी)** हेत्वाभास कहते हैं । अर्थात् विपक्षमें भी जिसकी अविरुद्ध वृत्ति हो उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । जैसे—घड़ा ठंडा है क्योंकि मूर्तिक है । मूर्तिकता की व्याप्ति, ठंडा और गरम दोनोंके साथ है इसलिये यह अनैकान्तिक कहलाया । यहांपर अग्नि विपक्ष है और हेतु उसमें भी चला जाता है इसलिये यह विपक्षमें भी अविरुद्ध वृत्ति कहलाया ॥ विरुद्ध हेत्वाभासमें व्याप्ति, साध्यके विरोधीके साथ ही रहती है और अनैकान्तिकमें साध्यके विरोधीके साथ भी रहती है । यही " ही " " भी " का अन्तर, दोनों हेत्वाभासोंके अन्तरको साफ़ साफ़ बतलाता है ॥ अनैकान्तिक हेत्वाभासके दो भेद हैं । निश्चितवृत्ति, शंकितवृत्ति । जिसकीवृत्ति विपक्षमें निश्चित है वह **निश्चितवृत्ति अनैकान्तिक** है । जैसे—घड़ा ठंडा है क्योंकि मूर्तिक है । इस अनुमानमें मूर्तिक हेतुकीवृत्ति, विपक्ष (अग्नि) में निश्चित है इसलिये यह निश्चितवृत्ति अनैकान्तिक कहलाया । मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि बोलता है । यहांपर सर्वज्ञताके साथ बोलनेका विरोध निश्चित नहीं, शङ्कित है इसलिये यह **शंकितवृत्ति अनैकान्तिक** कहलाया ।

---

१ विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।

जिस हेतुका साध्य, सिद्ध अथवा प्रत्यक्ष आदिसे वाधित हो उसे **अकिञ्चित्कर**[1] हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—अग्नि गरम है क्योंकि स्पर्शन इन्द्रियसे ऐसी ही माळूम होती है। यहांपर अनुमान व्यर्थ है क्योंकि अग्निकी गरमी प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध हो जाती है। अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके दो भेद हैं सिद्धसाधन और वाधितविषय। जिस हेतुका साध्य सिद्ध हो उसे **सिद्धसाधन** हेत्वाभास कहते हैं। इसका उदाहरण ऊपर दिया है। जिसका साध्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे वाधित हो उसे **वाधितविषय** हेत्वाभास कहते हैं। जैसे अग्नि ठंडी है क्योंकि द्रव्य है, यहांपर अग्निका ठंडापन प्रत्यक्ष प्रमाणसे वाधित है इसलिये यह वाधित–विषय हेत्वाभास कहलाया। वाधितविषयके अनेक भेद हैं प्रत्यक्ष-वाधित, अनुमानवाधित, आगमवाधित, स्ववचनवाधित लोक-वाधित आदि। प्रत्यक्षवाधितका उदाहरण ऊपर दिया गया है। जिसमें अनुमानसे वाधा आवे वह अनुमानवाधित है। जैसे—शब्द अपरिणामी है क्योंकि किसीका वनाया हुआ नहीं है, इसका वाधक दूसरा अनुमान है कि शब्द परिणामी है क्योंकि प्रत्यक्षका विषय है, जितने प्रत्यक्षके विषय हैं वे सब परिणमनशील है। जैसे वस्त्रादि। कोई हेतु आगमसे वाधित होता है। जैसे—पाप सुखका देनेवाला है क्योंकि कर्म है जो 'कर्म' है वह सुखका देनेवाला है जैसे पुण्य कर्म। यहांपर हेतु, आगम (शास्त्र) से वाधित है। जहां अपने ही वचनसे अपना पक्ष कटजाय वहां स्ववचन-वाधित हेत्वाभास माना जाता है। जैसे मेरी माता वन्ध्या है

---

१ सिद्धे प्रत्यक्षादिवाधिते च हेतुरकिञ्चित्करः।

क्योंकि पुरुषसंयोग होनेपर भी गर्भ नहीं रहता। माता अगर वन्ध्या होती तो माताको वन्ध्या कहनेवाला ही कहांसे आता? स्ववचन-बाधित, प्रत्यक्षबाधित आदिमें शामिल किया जा सकता है लेकिन स्पष्टताके लिये यहां इसे अलग गिनाया है। लोकबाधित-मनुष्यकी खोपड़ी पवित्र है क्योंकि प्राणीका अंग है। जैसे कि शंख शुक्ति आदि। मनुष्यकी खोपड़ी की पवित्रता लोकव्यवहारसे बाधित है। लोकबाधित, आगमबाधितमें शामिल हो सकता है। क्योंकि अगर लोगोंका कहना सच है तो वे आप्त हैं और उनका वचन आगम है। अगर लोगोंका कहना सच नहीं है तो उसके द्वारा बाधा ही उपस्थित नहीं हो सकती। इस तरह बाधितविषयके अनेक भेद हैं।

अकिंचित्कर (सिद्धसाधन और बाधितविषय) का हेतुसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। इसलिये वास्तवमें तीन ही हेत्वाभास हैं। साध्यके सिद्ध होनेसे या बाधित होनेसे तो पक्ष दूषित हो जाता है इसलिये हेतुको दूषित बतलाने की जरूरत नहीं रहती, पक्षही दूषित बतलाया जाता है।

अन्य लोगोंने हेत्वाभासके पांच भेद बतलाये हैं १ असिद्ध (साध्यसम) २ विरुद्ध ३ अनैकान्तिक (व्यभिचारी=सव्यभिचार) ४ बाधितविषय (कालात्ययापदिष्ट=कालातीत=अतीतकाल) ५ **सत्प्रतिपक्ष=प्रकरणसम**। इन पांचमें सिद्धसाधनका नाम नहीं आया है और प्रकरणसमका नया नाम आगया है बाकी चार का स्वरूप कहा जा चुका है। सिद्धसाधनको हेत्वाभास न माननेका कारण तो यही है कि इससे हेतु या अनुमान खंडित

---

१ "शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत्" परीक्षामुख।

नहीं होता, किन्तु अनावश्यक होता है । जैनदर्शनमें इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास न मानकर अकिंचित्कर हेत्वाभास के भीतर डाल दिया है। इसकी अनावश्यकता ही अकिञ्चित्करताको सिद्ध करती है। प्रकरणसमके विषयमें इतना ही कहना है कि इसे अनुमान वाधित के भीतर शामिल करना चाहिये ! जहां साध्यके अभावका साधक कोई दूसरा हेतु मौजूद रहता है वहां **प्रकरणसम** हेत्वाभास माना जाता है । जैसे—'शब्द नित्य है क्योंकि अनित्य-धर्मरहित है' इसका वाधक हेतु यह है कि शब्द अनित्य है क्योंकि नित्यधर्मरहित है । यहां पहिले हेतुका नित्यत्व विषय, दूसरे अनुमानसे वाधित है इसलिये प्रकरणसमको अनुमानसे वाधित ही कहना चाहिये । हां ! इतना अन्तर अवश्य है कि वाधित-विषयमें वाधक प्रमाण अधिक वलवान होता है और प्रकरणसममें दोनोंही समान वलशाली होते हैं । फिर भी यह वाधितविषयके लक्ष-णके वाहर नहीं है इसलिये इसे अनुमानवाधित ही समझना चाहिये ।

यद्यपि दृष्टान्त, अनुमान का अंग नहीं माना गया है परन्तु इसका प्रयोग वहुत किया जाता है तथा इसकी आवश्यकता भी वहुत रहती है इसलिये दृष्टान्ताभासका विवेचन कर देना भी अनावश्यक नहीं है । दृष्टान्तमें साध्य और साधनका सद्भाव या असद्भाव दिखलाया जाता है । इनमेंसे अगर अन्वय दृष्टान्तमें किसी एकका अभाव हो या व्यतिरेकमें किसी एकका सद्भाव हो अथवा अन्वय व्याप्तिके साथ व्यतिरेक दृष्टान्त, या व्यतिरेक व्याप्तिके साथ अन्वय दृष्टान्त दिखलाया जाय तो **दृष्टान्ताभास** कहलाता है । जैसे— शब्द, अपौरुषेय (किसी पुरुषका वनाया हुआ नहीं) है क्योंकि अमूर्तिक है, जो अमूर्तिक है वह अपौरुषेय है, जैसे—इन्द्रियसुख,

परमाणु, और घट। ये तीनों ही दृष्टान्ताभास हैं। क्योंकि अन्वयदृष्टान्त होनेसे इनमें साध्य और साधनका सद्भाव होना चाहिये। किन्तु इन्द्रियसुखमें साध्यका अभाव है। इन्द्रियसुख आत्मा का गुण (पर्याय) है इसलिये अमूर्तिक तो है परन्तु वह पुरुषोंके प्रयत्नसे पैदा होता है इसलिये अपौरुषेय नहीं है। इसकारण यह **असिद्ध-साध्य** दृष्टान्ताभास कहलाया। दूसरे दृष्टान्तमें साधन नहीं है। क्योंकि परमाणु किसीके द्वारा बनाया नहीं जाता इसलिये अपौरुषेय तो है किन्तु उसमें रूप रस गंध स्पर्श पाये जाते हैं इससे अमूर्तिक नहीं है इसलिये यह **असिद्धसाधन** दृष्टान्ताभास कहलाया। तीसरे दृष्टान्तमें साध्य और साधन दोनोंही नहीं है। क्योंकि घड़ा, न तो अपौरुषेय है और न अमूर्तिक, इसलिये यह **असिद्धोभय** अथवा **असिद्धसाध्यसाधन** दृष्टान्ताभास कहलाया। व्यतिरेक दृष्टान्तमें दोनों का अभाव होना चाहिये। अगर एकका भी सद्भाव हुआ तो दृष्टान्ताभास कहलायगा। जैसे—जो अपौरुषेय नहीं है वह अमूर्त नहीं है जैसे परमाणु, इन्द्रियसुख, आकाश। परमाणुमें-अपौरुषेयत्वका अभाव नहीं हैं; इन्द्रियसुखमें अमूर्तत्वका अभाव नहीं है; आकाशमें दोनोंका अभाव नहीं है इसलिये सब **व्यतिरेक दृष्टान्ताभास** हैं।

व्याप्तिको उलटदेनेसे भी दृष्टान्ताभास माने जाते हैं। अन्वय व्याप्तिमें साधनके सद्भावमें साध्यका सद्भाव बतलाया जाता है। यदि कोई साध्यके सद्भावमें साधनका सद्भाव दिखलावे तो वह **अन्वयदृष्टान्ताभास** कहलायगा। जैसे—जहाँ जहाँ अग्नि है वहाँ वहाँ धुआँ है जैसे—रसोईघर। यहाँ दृष्टान्त ठीक तो है लेकिन उसमें साध्य साधन, ठीक नियमसे नहीं बतलाये गये हैं। अगर अग्निके होनेपर धुआँके होनेका नियम मान लिया जावे तो

तपाये हुए लोहेके गोलेमें भी धुआँ मानना पड़ेगा। इसलिये अन्वय व्याप्ति ठीक ठीक मिलाना चाहिये। इसीप्रकार व्यतिरेक व्याप्ति भी अगर ठीक ठीक न मिलाई जावे तो **व्यतिरेकदृष्टान्ताभास** कहलायगा। व्यतिरेकदृष्टान्तमें साध्यके अभावमें साधनका अभाव माना जाता है। यदि साधनके अभावमें साध्यका अभाव कहा जाय तो लोहेके गरम गोलेमें धुआँके अभावसे अग्निका अभाव भी मानना पड़ेगा। इसलिये दृष्टान्तमें व्याप्तिका उचित रीतिसे प्रदर्शन करना अत्यावश्यक है।

राग द्वेष अज्ञानसे प्रगट किये गये वचन आदिसे पैदा होनेवाले ज्ञानको **आगमाभास** कहते हैं। जैसे—कोई मनुष्य लड़कोंसे तंग आकर कहे कि "यहाँ क्या करते हो! नदी किनारे जाओ वहाँ लड्डू बँट रहे हैं" यह आगमाभास कहलाया। आगमकी प्रमाणताको जांचनेके लिये पहिले तो उसके वक्ताकी परीक्षा करना चाहिये कि उसने कोई बात किसी कषाय अथवा अज्ञानके वशसे तो नहीं कही है। इतनेपर भी संदेह रहे तो यह देखना चाहिये कि उसका कथन, प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित तो नहीं है। इसतरह पूरी तसल्ली के बाद किसी बातको प्रमाण मानना उचित है। अगर इनमेंसे कोई दोष हो तो उसे आगमाभास समझना चाहिये।

चतुर्थ अध्याय।

वाद विवाद।

पुराने समयमें वाद विवादका बहुत रिवाज था। प्रत्येक बातके निर्णयके लिये वाद या शास्त्रार्थ[1] होता था। आजकल भी शास्त्रार्थ

---

१ वादविवाद धार्मिक विषयोंपर अधिक होते थे, और धार्मिक विषयोंके निर्णयमें आगम प्रमाण बहुत महत्त्वशाली माना जाता था।

होता है परन्तु अब यह प्रथा उठती जारही है । पुराने समयमें शास्त्रार्थियोंको सब नियमोंका पूरा पूरा पालन करना पड़ता था । जय पराजयके निर्णयके लिये भी अनेक नियम बनाये गये थे, जिनके आधार पर मध्यस्थ लोग जय पराजयका निर्णय करते थे । लेकिन शास्त्रार्थमें लोग किसी भी तरह की चालाकी करनेसे नहीं चूकते थे इसलिये नियम भी बहुत कठोर बनगये थे । पीछे तो नियम यहां तक कठोर बन गये कि अनेक निरपराध भी उनके द्वारा पीसे जाने लगे । छल, जाति या निग्रहस्थानसे पराजय मानली जाती थी परन्तु यह नियम इतना कठोर है कि सच्चा विजयी भी इसकी ओटमें पराजित सिद्ध किया जा सकता है, इसलिये छल आदिके प्रयोगसे ही जय पराजयकी व्यवस्था करना उचित नहीं है । जय पराजयकी व्यवस्थामें सिर्फ इतना ही देखना चाहिये कि कौन अपने पक्षको सिद्ध कर सका है और कौन नहीं कर सका है ।

वादविवाद अथवा किसी वस्तुको निर्णय करने की चर्चा दोतरह की होती है, वीतरागकथा और विजगीषुकथा । गुरुशिष्यमें, सहपाठियोंमें, तथा अन्य जिज्ञासुओंके बीच जो तत्त्वनिर्णयके लिये चर्चाकी जाती है वह वीतरागकथा कहलाती है । इस कथामें जय पराजयके ऊपर बिलकुल लक्ष्य नहीं दिया जाता सिर्फ तत्त्वके

इसलिये लोग शास्त्रोंके अर्थको अपने अनुकूल सिद्ध करनेके लिये पूरी कोशिश करते थे । आजकल भी भारतवर्षमें जरा जरासी बातके लिये शास्त्रका अर्थ तोड़ा मरोड़ा जाता है । पहिले समयमें जब सारी विद्याबुद्धि शास्त्रोंके अर्थ करनेमें लगादी जाती थी तब वादविवादके लिये शास्त्रार्थ शब्दका प्रयोग होने लगा होगा ।

निर्णयका विचार रहता है । **विजगीषुकथामें** तत्त्वनिर्णय तो गौण है, जय पराजयका विचार ही मुख्य रहता है । कई लोग वीतरागकथाको **वाद** कहते हैं और विजगीषुकथाको जल्प और वितण्डा[1] । यद्यपि जल्प और वितण्डा दोनोंमें जय पराजयका विचार रहता है परन्तु इनमें परस्पर कुछ अन्तर भी है । **जल्प** में तो वादी और प्रतिवादी दोनोंका कोई पक्ष रहता है जिसे सिद्ध करने की वे चेष्टा करते हैं; किन्तु वितण्डामें[2] सिर्फ वादीका पक्ष रहता है प्रतिवादी अपना कोई पक्ष नहीं रखता वह तो सिर्फ, वादीका खण्डन ही करता है ।

वक्ताके वचनोंका अभिप्राय बदलना **छल**[3] कहलाता है । छलके तीन भेद हैं. वाक् छल, सामान्य छल, उपचार छल । किसी वाक्यके अनेक अर्थ होते हों, उनमेंसे वक्ताके अर्थको छोड़कर दूसरा अर्थ लेना **वाक्छल**[4] कहलाता है । जैसे—" इस विषयको छोड़िये " यहां विषय शब्दके अर्थको बदलकर कोई देश अर्थ करले और कहे कि ' इस देशको क्यों छोड़ूं ' । यह

---

१ हरिभद्र सूरिने वितण्डाको शुष्कवाद, जल्पको विवाद, और वादको धर्मवाद कहा है ।

२ हेमचन्द्र सूरिने वितण्डाको कथा ही नहीं माना है । उनका कहना है कि जिसका कोई पक्ष नहीं, उसकी बात ही नहीं सुनना चाहिये " प्रतिपक्षस्थापनाहीनायाः वितण्डायाः कथात्वायोगात् । वैतण्डिको हि स्वपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन्यात्किञ्चिद्वादेन परपक्षमेव दूषयन् कथमवधेयवचनः । " प्रमाणमीमांसा ।

३ वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ।

४ अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।

वाक्छल कहलाया। शास्त्रार्थमें इस प्रकारका छल करना अनुचित है, लेकिन छल करनेसे किसीको पराजित मानना भी अनुचित है। क्योंकि सम्भव है वादीने ही ऐसे अनेकार्थक शब्दका प्रयोग किया हो जिससे प्रतिवादी चक्करमें आजाय और उसके ऊपर छल करने का दोषारोपण करके विजय प्राप्त करली जाय। 'वह आदमी जटिल था' इसके अर्थमें सन्देह हो सकता है कि वह जटिल स्वभावका था या जटाधारी था? सम्भव है प्रतिवादीका ध्यान सिर्फ एकही अर्थ की ओर जावे और वह वादीके अभिप्रायसे उल्टा हो; ऐसी हालतमें यह छल किया गया या नहीं, इसका निर्णय करना कठिन है। इसलिये छल करने पर अपने भाव दूसरे शब्दोंमें कह देना ही उचित है; अन्यथा यह छल है या नहीं, इसी विषयपर शास्त्रार्थ खड़ा हो जायगा और विषयान्तर होनेसे शास्त्रार्थका उद्देश ही नष्ट हो जायगा।

वाक्छलका प्रयोग करना शास्त्रार्थमें ही अनुचित है। कविता तथा हँसी मजाकमें तो यह गुण माना जाता है काव्यमें तो श्लेषालङ्कारके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है।

सम्भावना मात्रसे कही गई बातको सामान्य नियम मानकर वक्ताका अभिप्राय बदलना **सामान्य[1] छल** कहलाता है। जैसे—अमुक देशके मनुष्य बहुत विद्वान होते हैं। इस वाक्यका अर्थ बदलकर कहा जाय कि वहांके छोटे छोटे बालक भी विद्वान होना चाहिये। यहां बहुलतासे सम्भावना मात्र की गई थी इसे सामान्य नियम मानकर खण्डन करना अनुचित है।

---

१ सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम्।

यद्यपि सामान्य छलका प्रयोग करना अनुचित है, फिर भी इससे प्रतिवादीका पराजय नहीं कहा जा सकता । क्योंकि वादी अगर अनैकान्तिक हेत्वाभासका प्रयोग करे और प्रतिवादी उसको हेत्वाभास ठहरावे ऐसी हालतमें भी वादी कह सकता है कि " मैंने तो सम्भावना मात्रसे यह वात कही थी तुमने व्यभिचार दिखलाकर छल किया है इसलिये तुम्हारा पराजय हुआ " लेकिन इस तरह पराजय की व्यवस्था मानना अनुचित है । क्योंकि इससे तो अनैकान्तिक हेत्वाभासका उद्घाटन करना भी मुश्किल हो जायगा और यह छल है कि नहीं ? इसी विषयपर असन्तोषजनक चर्चा होने लगेगी ।

किसी धर्मका किसी जगह उपचार (अध्यारोप) किया गया हो, वहां उस उपचारको न मानकर शव्दका अर्थ वदलना **उपचार[1] छल** कहलाता है । अथवा शव्दका लक्ष्य[2] अर्थमें प्रयोग होनेपर अभिधेय अर्थको ग्रहण करना उपचार छल है । जैसे—भारत वड़ा धार्मिक देश है । इसका अर्थ वदलकर कहना भारतके निवासी धार्मिक हो सकते हैं भारत कैसे धार्मिक हो सकता है

---

१ धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेधः उपचारछलम् ।

२ शव्दका अर्थ तीन तरहका होता है वाच्य (अभिधेय=अभिधासे होनेवाला), लक्ष्य (लक्षणासे होनेवाला), व्यङ्ग्य (व्यञ्जनासे होनेवाला) । जहां शव्दका सीधा (संकेतके अनुसार) अर्थ हो वहां अभिधा मानी जाती है जैसे यह नगर वहुत वड़ा है । यहां नगर शव्दका अर्थ सीधा है । जहां शव्दके अर्थका उपचार दूसरी चीजमें किया जाय वहां ' लक्षणा ' मानी जाती है जैसे " महात्माके दर्शनोंको सारा नगर दौड़ा आया " नगर तो घरोंका समूह है, घरोंका

क्या यहां नदी पहाड़ आदिभी धर्म करते हैं ? यह उपचार छल है । अथवा " वाह साहिव ! आपने अपने पक्षकी खूब सिद्धिकी जिसमें एकभी सच्चा हेतु नहीं है " यहां ' खूब सिद्धिकी ' इसका मतलब है कि ' विलकुल सिद्धि नहीं की ' किन्तु इसका मतलब वदलकर कहना कि " तुम बड़े विचित्र आदमी हो यदि एक भी सच्चा हेतु नहीं है तो खूब सिद्धि कैसे की ? यह उपचार छल है । इसका प्रयोग करना अनुचित है, फिरभी इसके प्रयोगसे किसीको पराजित न मानना चाहिये । छल करनेसे प्रतिवादी की अज्ञानता अथवा गुस्ताखी माल्रूम होती है फिरभी इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने पक्षका समर्थन नहीं कर सकता । हां ! अगर वह छल करे और अपने पक्षका समर्थन न करे तो अवश्य उसका पराजय हो जायगा । लेकिन यह पराजय छल करनेसे नहीं, किन्तु अपने पक्षके समर्थन न करनेसे हुआ है ।

जाति ।

सिर्फ समानता या असमानता दिखलाकर मिथ्या उत्तर देना ' **जाति**[1] है । जब वादी की कही गई वातका कुछ खंडन नहीं सूझता तब इधर उधर की वस्तुओंसे समानता या असमा-

---

समूह दौड़ नहीं सकता इसलिये नगर शब्दका अर्थ ' नगरमें रहने वाले मनुष्य ' लिया गया । अभिधा और लक्षणाके अतिरक्त अन्य अभिप्रायका ग्रहण करना व्यञ्जना है । जैसे " सन्ध्या होगई " इसका अर्थ, वेश्याओंके लिये हुआ ' श्रंगार करना चाहिये ' घूमनेवालोंके लिये हुआ ' घूमने चलना चाहिये ' इसी तरह ' घर चलना चाहिये ' ' अमुक अदमीसे मिलने चलना चाहिये ' आदि अनेक अर्थ हुए ।

१ साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्प्रत्यवस्थानं जातिः । असदुत्तरं जातिः ।

नता दिखलाकर वादीका खंडन किया जाता है, इसे जात्युत्तर या जाति कहते हैं । जातिके २४ [1]भेद हैं—१ साधर्म्यसमा, २ वैधर्म्यसमा, ३ उत्कर्षसमा, ४ अपकर्षसमा, ५ वर्ण्यसमा, ६ अवर्ण्यसमा, ७ विकल्पसमा, ८ साध्यसमा ९ प्राप्तिसमा, १० अप्राप्तिसमा, ११ प्रसङ्गसमा, १२ प्रतिदृष्टान्तसमा, १३ अनुत्पत्तिसमा, १४ संशयसमा, १५ प्रकरणसमा, १६ अहेतुसमा, १७ अर्थापत्तिसमा, १८ अविशेषसमा, १० उपपत्तिसमा, २० उपलब्धिसमा, २१ अनुपलब्धिसमा, २२ नित्यसमा, २३ अनित्यसमा, २४ कार्यसमा ॥

साधर्म्यसे उपसंहार करनेपर दृष्टान्तकी समानता दिखलाकर साध्यसे विपरीत कथन करना [2]**साधर्म्यसमा** जाति है । जैसे—वादीने कहा " शब्द अनित्य है क्योंकि कृत्रिम है, जो कृत्रिम होता है वह अनित्य होता है जैसे घड़ा " इसका खंडन करनेके लिये अगर प्रतिवादी कहे कि " यदि कृत्रिम रूप धर्मसे शब्द और घड़ेमें समानता है इसलिये घड़ेके समान शब्द अनित्य है तो अमूर्तत्व धर्मसे शब्द और आकाशमें भी समानता है इसलिये शब्द, आकाशके समान नित्य मानना चाहिये " । यह साधर्म्यसमा जाति कहलायगी, क्योंकि यह उत्तर बिलकुल अनुचित है । वादीने शब्दको अनित्य सिद्ध करनेके लिये कृत्रिमताको हेतु बनाया है जिसका खंडन प्रतिवादीने बिलकुल नहीं किया । वादीने यह तो कहा नहीं है कि " शब्द अनित्य है क्योंकि घटके समान है "

---

१ साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ।

२ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेःसाधर्म्यवैधर्म्यसमौ ।

अगर वह ऐसा हेतु देता तो प्रतिवादीका खण्डन ठीक कहा जा सकता था। सिर्फ दृष्टान्तकी समानता दिखलानेसे ही साध्यका खण्डन नहीं होता, उसके लिये हेतु देना चाहिये या वादीके हेतुका खण्डन करना चाहिये। यहां प्रतिवादीने दोनोंमेंसे एक भी काम नहीं किया। इसीतरह वैधर्म्यके उपसंहार करनेपर वैधर्म्य दिखलाकर खण्डन करना **वैधर्म्यसमा** जाति है। जैसे—जो अनित्य नहीं है वह कृत्रिम नहीं है जैसे—आकाश। यहांपर यदि प्रतिवादी कहे 'यदि नित्य आकाश की असमानतासे शब्द अनित्य है तो अनित्य घटकी असमानतासे (क्योंकि घट मूर्तिक है और शब्द अमूर्तिक है) शब्दको नित्य मानना चाहिये यह वैधर्म्यसमा जाति है। क्योंकि इससे वादीके हेतुका कोई खण्डन नहीं हुआ। वादीने वैधर्म्यको हेतु नहीं बनाया था। १—२

दृष्टान्तके धर्मको साध्यमें मिला देनेसे ही वादीका खंडन करना उत्कर्षसमा जाति है। जैसे—आत्मामें क्रिया हो सकती है क्योंकि उसमें क्रियाका कारण गुण मौजूद है (कियाहेतुगुणाश्रय होनेसे)। जो किया हेतु गुणाश्रय है वह क्रियावाला है, जैसे—मिट्टी

---

१ यहां न्याय दर्शन की अपेक्षासे शब्दको अमूर्तिक कहा है, किन्तु जैन दर्शनमें शब्दको मूर्तिक माना है। इसका एक कारण यह भी है कि दोनों दर्शनोंमें मूर्तिक की परिभाषा जुदी जुदी है। न्यायदर्शनमें मूर्तिकका मतलब अल्पपरिमाणवाला अर्थात् अव्यापक है, जैनदर्शनमें मूर्तिकका मतलब है रूपरसगंधस्पर्शवाला। जैनदर्शनमें शब्द भी स्पर्श-रूपादिवाला माना गया है क्योंकि वह दीवाल आदिसे रुकता है। वर्तमानके वैज्ञानिकों ने शब्दको दृश्य सिद्ध किया है। वे आवाजको रूपमें परिणत कर लेते हैं।

का ढेला । इसके उत्तर में अगर प्रतिवादी कहे कि " यदि जीव, मिट्टीके ढेलेके समान होनेसे क्रियावाला है तो जैसे ढेलेमें रूप आदि हैं उसी तरह जीवमें भी होना चाहिये " यह उत्कर्षसमा जाति कही जायगी । क्योंकि क्रियाहेतुगुणाश्रय होना और रूपादि-वाला होनेका कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है । उत्कर्ष-समाको उलट देनेसे अपकर्षसमा जाति हो जाती है । जैसे— " जीव अगर ढेलेके समान रूपादिवाला नहीं है तो क्रियावाला भी मत कहो " । साधर्म्यवैधर्म्यसमामें साध्यके विरोधी धर्मको सिद्ध करनेकी चेष्टा की जाती है और उत्कर्षअपकर्षसमामें किसी अन्य धर्मको सिद्ध करनेकी चेष्टाकी जाती है । ३—४ ॥

जिसका कथन किया जाता है उसे वर्ण्य, और जिसका कथन नहीं किया जाता उसे अवर्ण्य कहते हैं । वर्ण्य या अवर्ण्य की समान-तासे जो असदुत्तर दिया जाता है उसे **वर्ण्यसमा** या **अवर्ण्यसमा** कहते हैं । जैसे—अगर साध्यमें सिद्धिका अभाव है तो दृष्टान्तमें भी होना चाहिये (वर्ण्यसमा) यदि दृष्टान्तमें सिद्धिका अभाव नहीं है तो साध्यमें भी न होना चाहिये (अवर्ण्यसमा) । दूसरे धर्मोंके विकल्प उठाकर मिथ्या उत्तर देना **विकल्पसमा**[1] जाति है । जैसे—कृत्रिमता और गुरुत्वका सम्बन्ध ठीक ठीक नहीं मिलता, गुरुत्व और अनित्यत्वका नहीं मिलता, अनित्यत्व और मूर्तत्वका नहीं मिलता, इसलिये अनित्यत्व और कृत्रिमताका भी सम्बन्ध न मानना चाहिये; जिससे कृत्रिमतासे शब्द अनित्य सिद्ध किया जा सके । वादीने जो साध्य बनाया हो उसीके समान दृष्टान्त आदिको

१ धर्मान्तर विकल्पेन प्रत्यवस्थापनं विकल्पसमा जातिः ।

बतलाकर मिथ्या उत्तर देना **साध्यसमा**[1] जाति है । जैसे—यदि मिट्टीके ढेलेके समान आत्मा है तो आत्माके समान मिट्टीके ढेलेको भी मानना चाहिये । आत्मामें 'क्रिया' साध्य (सिद्ध करने योग्य, न कि सिद्ध) है तो मिट्टीके ढेलेमें भी साध्य मानो ! यदि ऐसा नहीं मानते हो तो आत्मा और मिट्टीके ढेलेको समान मत मानो । ये सब मिथ्या उत्तर हैं, क्योंकि दृष्टान्तमें सब धर्मोंकी समानता नहीं देखी जाती उसमें तो सिर्फ साध्य और साधनकी समानता देखी जाती है । विकल्पसमामें जो अनेक धर्मोंका व्यभिचार बतलाया है उससे वादीका अनुमान खंडित नहीं होता, क्योंकि साध्य-धर्मके सिवाय अन्य धर्मोंके साथ अगर साधन की व्याप्ति न मिले तो इससे साधनको व्यभिचारी नहीं कह सकते । हां ! अगर साध्य-धर्मके साथ व्याप्ति न मिले तो व्यभिचारी हो सकता है । दूसरे धर्मोंके साथ व्यभिचार आनेसे साध्यके साथ भी व्यभिचार की कल्पना करना व्यर्थ है । धूमकी अगर पत्थरके साथ व्याप्ति नहीं मिलती तो यह नहीं कहा जा सकता कि धूमकी व्याप्ति, अग्निके साथ भी नहीं है ॥ ५—६—७—८ ।

प्राप्ति और अप्राप्तिका प्रश्न उठाकर सच्चे हेतुको खंडित बतलाना **प्राप्तिसमा**[3] और **अप्राप्तिसमा**[4] जाति हैं । जैसे—हेतु साध्यके पास रहकर साध्यको सिद्ध करता है या दूर रहकर ? यदि पास रहकर,

---

१ पक्षदृष्टान्तादेः प्रकृतसाध्यतुल्यतापादनं साध्यसमा ।

२ न हि सर्वो दृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके भवितुमर्हति ।

३ सम्यक्साधने प्रयुक्ते प्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थानं सा प्राप्तिसमा ।

४ सम्यक्साधने प्रयुक्तेऽप्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थानं सा अप्राप्तिसमा ।

तो कैसे माल्हम होगा कि यह साध्य है और यह हेतु है, (प्राप्तिसमा) । यदि दूर रहकर, तो यह साधन अमुक धर्मकी ही सिद्धि करता है दूसरे की नहीं, यह कैसे माल्हम हो (अप्राप्तिसमा) । ये असदुत्तर हैं । क्योंकि धुआँ आदि, पास रहकर अग्निकी सिद्धि करते हैं । दूर रहकर भी पूर्वचर आदि साधन, अपने साध्यकी सिद्धि करते हैं । जिनमें अविनाभाव सम्बन्ध है, उन्हींमें साध्यसाधकता हो सकती है, न कि सबमें ॥ ९—१० ॥

जैसे साध्यके लिये साधनकी जरूरत है उसीप्रकार दृष्टान्तके लिये भी साधनकी जरूरत है । ऐसा कहना **प्रसङ्गसमा** जाति है । दृष्टान्तमें वादी प्रतिवादीको विवाद नहीं होता इसलिये उसके लिये साधनकी आवश्यकता बतलाना व्यर्थ है । अन्यथा वह दृष्टान्त ही न कहलायगा ॥ ११ ॥

विना व्याप्तिके सिर्फ दूसरा दृष्टान्त देकर दोप लगाना **प्रति—दृष्टान्तसमा** जाति है । जैसे—घड़ेके दृष्टान्तसे यदि शब्द अनित्य है तो आकाशके दृष्टान्तसे नित्य कहलावे । प्रतिदृष्टान्त देनेवालेने कोई हेतु नहीं दिया है जिससे यह कहा जाय कि दृष्टान्त साधक नहीं है प्रतिदृष्टान्त, साधक है । विना हेतुके खंडन मंडन कैसे हो सकता है ? ॥ १२ ॥

उत्पत्तिके पहिले, कारणका अभाव दिखलाकर मिथ्या खंडन करना **अनुत्पत्तिसमा** है । जैसे—उत्पत्तिके पहिले शब्द कृत्रिम है या नहीं ? यदि है तो उत्पत्तिके पहिले मौजूद होनेसे शब्द नित्य होगया । यदि नहीं है तो हेतु आश्रयासिद्ध हो गया । यह उत्तर ठीक नहीं है; क्योंकि उत्पत्तिके पहिले तो वह शब्द ही नहीं था फिर कृत्रिम अकृत्रिमका प्रश्न ही क्या ? ॥ १३ ॥

व्याप्तिमें मिथ्या सन्देह बतलाकर वादीके पक्षका खंडन करना **संशयसमा** जाति है । जैसे—कार्य होनेसे शब्द अनित्य है तो यह कहना कि इन्द्रियका विषय होनेसे शब्दकी अनित्यतामें सन्देह है । क्योंकि इन्द्रियोंके विषय नित्य भी होते हैं (जैसे—गोत्व घटत्व आदि सामान्य) और अनित्य भी होते है (जैसे घट पट आदि) यह संशय ठीक नहीं, क्योंकि जब तक कार्यत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति खंडित न कीजाय तब तक वहां संशयका प्रवेश हो ही नहीं सकता । कार्यत्वकी व्याप्ति यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ हो, तो संशय हो सकता है अन्यथा नहीं । लेकिन कार्यत्वकी व्याप्ति दोनोंके साथ हो ही नहीं सकती ॥ १४ ॥

मिथ्या व्याप्तिके ऊपर अवलम्बित दूसरे अनुमानसे दोष देना **प्रकरणसमा**[1] जाति है । जैसे—" यदि अनित्य (घट) के साधर्म्य से कार्यत्व हेतु शब्दकी अनित्यता सिद्ध करता है, तो गोत्व आदि सामान्यके साधर्म्यसे ऐन्द्रियकत्व (इन्द्रियका विषय होना) हेतु नित्यताको सिद्ध करे । इसलिये दोनों पक्ष बराबर कहलाये । " यह असत्य उत्तर है, क्योंकि अनित्यत्व और कार्यत्वकी तो व्याप्ति है लेकिन ऐन्द्रियकत्व और नित्यत्वकी व्याप्ति कहां है ? ॥१५॥

भूत आदि कालकी असिद्धि बतलाकर हेतु मात्रको अहेतु कहना **अहेतुसमा** जाति है । जैसे—" हेतु, साध्यके पहिले होता है या पीछे होता है या साथ होता है ? पहिले तो हो नहीं सकता, क्योंकि जब साध्यही नहीं तब साधक किसका ? न पीछे हो सकता है क्योंकि जब साध्यही नहीं रहा तब वह सिद्ध किसे करेगा ? अथवा जिससमय साध्य था उससमय यदि साधन

---

१ प्रत्यनुमानेन प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमा जातिः ।

नहीं था तो वह साध्य कैसे कहलाया ? दोनों एक साथ भी नहीं बन सकते, क्योंकि उससमय यह सन्देह हो जायगा कि कौन साध्य है कौन साधक है ? जैसे—विंध्याचलसे हिमालयकी और हिमालयसे विन्ध्याचलकी सिद्धि करना अनुचित है, उसी तरह एक कालमें होनेवाली वस्तुओंको साध्य साधक ठहराना अनुचित है " यह असत्य उत्तर है, क्योंकि इसप्रकार त्रिकालकी असिद्धि बतलानेसे जिस हेतुके द्वारा जातिवादीने हेतुको अहेतु ठहराया है वह हेतु (जातिवादीका त्रिकालासिद्धि हेतु) भी अहेतु ठहर गया और जातिवादीका वक्तव्य अपने आप खंडित होगया। दूसरी बात यह है कि कालभेद होनेसे या अभेद होनेसे अविनाभाव सम्बन्ध बिगड़ता नहीं है; यह बात पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, कार्य, कारण आदि हेतुओंके स्वरूपसे स्पष्ट विदित हो जाती है। जब अविनाभाव सम्बन्ध नहीं मिटता तब हेतु, अहेतु कैसे कहा जा सकता है ? कालकी एकतासे साध्यसाधनमें सन्देह नहीं होसकता क्योंकि दो वस्तुओंके अविनाभावमें ही साध्य साधनका निर्णय हो जाता है। अथवा दोमेंसे जो असिद्ध हो वह साध्य, और जो सिद्ध हो उसे हेतु मानलेनेसे सन्देह मिट जाता है ॥ १६ ॥

अर्थापत्ति दिखलाकर मिथ्यादूषण देना **अर्थापत्तिसमा** जाति है। जैसे—" यदि अनित्यके साधर्म्य (कृत्रिमता) से शब्द अनित्य है तो इसका मतलब यह हुआ कि नित्य (आकाश) के साधर्म्य (स्पर्शरहितता) से नित्य है " यह उत्तर असत्य है क्योंकि स्पर्श-

---

१ यद्यनित्यसाधर्म्यात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्दस्तर्हि अर्थादापन्नं यन्नित्यसाधर्म्यादस्पर्शवत्वान्नित्यः।

रहित होनेसेही कोई नित्य कहलाने लगे तो सुख वगैरह भी नित्य कहलाने लगेंगे ॥ १७ ॥

पक्ष और दृष्टान्तमें अविशेषता देखकर किसी अन्य धर्मसे सब जगह (विपक्षमें भी) अविशेषता दिखलाकर साध्यका आरोप करना **अविशेषसमा** जाति है। जैसे " शब्द और घटमें कृत्रिमतासे अविशेषता होनेसे अनित्यता है तो सब पदार्थोंमें सत्त्वधर्मसे अविशेषता है इसलिये सभी (आकाशादि—विपक्ष भी) अनित्य होना चाहिये। " यह असत्य उत्तर है क्योंकि कृत्रिमताका अनित्यताके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, लेकिन सत्त्वका अनित्यताके साथ नहीं है ॥ १८ ॥

साध्य और साध्यविरुद्ध, इन दोनोंके कारण दिखलाकर मिथ्या दोष देना **उपपत्तिसमा**[१] जाति है। जैसे—" यदि शब्दके अनित्यत्वमें कृत्रिमता कारण है तो उसके नित्यत्वमें स्पर्शरहितता कारण है " यहां जातिवादी अपने शब्दोंसे अपनी बातका विरोध करता है। जब उसने शब्दके अनित्यत्वका कारण मानलिया तो नित्यत्वका कारण कैसे मिल सकता है? दूसरी बात यह है कि स्पर्शरहितताकी नित्यत्वके साथ व्याप्ति नहीं है ॥ १९ ॥

निर्दिष्ट कारण (साध्यकी सिद्धिका कारण—साधन) के अभावमें साध्यकी उपलब्धि बताकर दोष देना **उपलब्धिसमा**[२] जाति है। जैसे—" प्रयत्नके बाद पैदा होनेसे शब्दको अनित्य कहते हो; लेकिन ऐसे बहुतसे शब्द है जो प्रयत्नके बाद न होने पर भी

---

१ उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमा।

२ निर्दिष्टकारणाभावेप्युपलम्भादुपलब्धिसमा।

अनित्य हैं । मेघगर्जना आदिमें प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है" यह दूषण मिथ्या है क्योंकि साध्यके अभावमें साधनके अभावका नियम है, न कि साधनके अभावमें साध्यके अभावका । अग्निके अभावमें नियमसे धुआँ नहीं रहता, लेकिन धुआँके अभावमें नियमसे अग्निका अभाव नहीं कहा जा सकता ॥ २० ॥

उपलब्धिके अभावमें अनुपलब्धिका अभाव कहकर दूषण देना **अनुपलब्धिसमा** जाति है । जैसे—किसीने कहा कि "उच्चारणके पहिले शब्द नहीं था क्योंकि उपलब्ध नहीं होता था । यदि कहा जाय कि उससमय शब्दपर आवरण था इसलिये अनुपलब्ध था तो उसका आवरण तो उपलब्ध होना चाहिये । जैसे कपड़ेसे ढकी हुई चीज नहीं दिखती है तो कपड़ा दिखता है, उसीतरह शब्दका आवरण उपलब्ध होना चाहिये" इसके उत्तरमें जातिवादी कहता है "जैसे आवरण उपलब्ध नहीं होता उसीतरह आवरण की अनुपलब्धि (अभाव) भी तो उपलब्ध नहीं होती" यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि आवरणकी उपलब्धि न होनेसे ही आवरण की अनुपलब्धि उपलब्ध हो जाती है ॥ २१ ॥

एक की अनित्यतासे सबको अनित्य कहकर दूषण देना **अनित्यसमा**[1] जाति है । जैसे—"यदि किसी धर्मकी समानतासे आप शब्दको अनित्य सिद्ध करोगे तो सत्त्वकी समानतासे सब चीजें अनित्य सिद्ध होजावेंगीं" यह उत्तर ठीक नहीं । क्योंकि वादी प्रतिवादीके शब्दोंमें भी प्रतिज्ञा आदि की समानता तो है ही, इसलिये जिसप्रकार प्रतिवादी (जातिका प्रयोग करनेवाला) के

---

१ एकस्यानित्यत्वे सर्वस्यानित्यत्वापादनमनित्यसमा ।

शब्दोंसे वादीका खंडन होगा, उसीप्रकार प्रतिवादीका भी खंडन होजायगा। इसलिये जहां जहां अविनाभाव हो, वहीं वहीं साध्यकी सिद्धि मानना चाहिये, नकि सब जगह ॥ २२ ॥

अनित्यत्वमें नित्यत्वका आरोप करके खण्डन करना **नित्यसमा** जाति है। जैसे—"शब्दको तुम अनित्य सिद्ध करते हो तो शब्दमें अनित्यत्व, नित्य है या अनित्य? अनित्यत्व नित्य है तो शब्दभी नित्य कहलाया [धर्मके नित्य होनेपर धर्मीको नित्य कहनाही पड़ेगा] यदि अनित्यत्व, अनित्य है तो शब्द नित्य कहलाया।" यह असत्य उत्तर है क्योंकि जब शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध है तो उसीका अभाव कैसे कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि इसतरह कोई भी वस्तु अनित्य सिद्ध नहीं हो सकेगी। तीसरी बात यह है कि अनित्यत्व एक धर्म है अगर धर्ममें भी धर्म की कल्पना कीजायगी तो अनवस्था होजायगी ॥ २३ ॥

कार्यको अभिव्यक्तिके समान मानना (क्योंकि दोनोंमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है) और सिर्फ इतनेसे ही सत्य हेतुका खण्डन करना **कार्यसमा**[१] जाति है। जैसे—"प्रयत्नके बाद शब्दकी उत्पत्तिभी होती है और अभिव्यक्ति (प्रगट होना) भी होती है फिर शब्द अनित्य कैसे कहा जा सकता है।" यह उत्तर ठीक नहीं है क्योंकि प्रयत्नके अनन्तर होना, इसका मतलब है स्वरूपलाभ करना। अभिव्यक्तिको स्वरूपलाभ नहीं कह सकते। प्रयत्नके पहिले अगर शब्द उपलब्ध होता या उसका आवरण उपलब्ध होता तो अभिव्यक्ति कही जा सकती थी ॥ २४ ॥

---

१ प्रयत्नानेककार्यत्वात्कार्यसमा (प्रयत्नके अनेककार्य—उत्पत्ति अभिव्यक्ति—दिखलानेसे कार्यसमा जाति कहलाती है)

जातियोंके विवेचनसे माळूम होता है कि इनसे परपक्षका बिलकुल खण्डन नहीं होता । वादीको चक्करमें डालनेके लिये यह शब्दजाल बिछाया जाता है, जिसका काटना कठिन नहीं है । इसलिये इनका प्रयोग न करना चाहिये । अगर कोई प्रतिवादी इनका प्रयोग करे तो वादीको बतलादेना चाहिये कि प्रतिवादी ने मेरे पक्षका खण्डन नहीं कर पाया । इससे प्रतिवादीका पराजय हो जायगा । लेकिन यह पराजय इसलिये नहीं होगा कि उसने जातिका प्रयोग किया, बल्कि इसलिये होगा कि वह अपने पक्षका मंडन या परपक्षका खंडन नहीं कर पाया ।

निग्रहस्थान ।

विरुद्ध अथवा भद्दी बातें कहना, अथवा स्वपक्षमंडन और परपक्षखंडन न करसकना निग्रहस्थान है । जिससे पराजय हो जाय वही **निग्रहस्थान** है । साधारण रीतिसे जो निग्रहस्थानका विवेचन किया जाता है वह उचित है लेकिन निग्रहस्थानोंमें बहुतसे निग्रहस्थान ऐसे हैं जिन्हें निग्रहस्थान कहना अनुचित है । जिससे यह न माळूम हो कि वक्ता अपने पक्षका मंडन या परपक्षका खंडन नहीं कर पाया, उसे निग्रह-स्थान कदापि न कहना चाहिये । निग्रहस्थानोंमें कुछ निग्रह-स्थान ऐसे भी हैं जिनमें नाम मात्रका अन्तर है ।

निग्रहस्थानके दो भेद हैं विप्रतिपत्ति, और अप्रतिपत्ति । विरुद्ध प्रतिपत्ति अर्थात् उल्टी समझसे पराजय होता है और अप्रतिपत्ति अर्थात् नासमझीसे भी पराजय होता है । विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति ये दोनों ही अनेक प्रकारकी हैं इसलिये निग्रह-

स्थानके २२ भेद हो जाते हैं—१ प्रतिज्ञाहानि, २ प्रतिज्ञान्तर ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासन्यास, ५ हेत्वन्तर, ६ अर्थान्तर, ७ निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९ अपार्थक, १० अप्राप्तकाल, ११ न्यून, १२ अधिक, १३ पुनरुक्त, १४ अननुभाषण, १५ अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षण, २० निरनुयोज्यानुयोग, २१ अपसिद्धान्त, २२ हेत्वाभास। इनमेंसे अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, ये छः अप्रतिपातिसे होते हैं बाकीके १६ विप्रतिपत्तिसे।

अपने दृष्टान्तमें विरोधीके दृष्टान्तका धर्म स्वीकार कर लेना **प्रतिज्ञाहानि**[1] है। जैसे—वादीने कहा 'शब्द अनित्य है क्योंकि इन्द्रियका विषय है जैसे—घट'। प्रतिवादीने इसका खंडन करनेके लिये कहा 'इन्द्रियोंका विषय तो घटत्व (जाति) भी है, लेकिन वह नित्य नहीं है इससे वादीका पक्ष गिरगया। लेकिन वह सीधे हार न मानकर कहता है 'क्या हुआ घट भी नित्य रहे' यह प्रतिज्ञाहानि है क्योंकि वादीने अपने अनित्यत्व पक्षको छोड़ दिया॥ प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर पहिली प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिये दूसरी प्रतिज्ञा करना **प्रतिज्ञान्तर**[2] है। जैसे—उपर्युक्त अनुमानमें प्रतिज्ञाके खंडित होनेपर कहना कि शब्द तो घटके समान असर्वगत है इसलिये उसीके समान अनित्य भी है। यहां शब्दको असर्वगत कहकर दूसरी प्रतिज्ञा की गई है लेकिन इससे पूर्वोक्त व्यभिचार दोषका परिहार नहीं होता॥ प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध होना

---

१ प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते, प्रतिज्ञाहानिः।

२ प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरं।

प्रतिज्ञाविरोध है । जैसे—गुण, द्रव्यसे भिन्न है क्योंकि द्रव्यसे जुदा नहीं माळूम होता । जुदा न माळूम होनेसे तो अभिन्नता सिद्ध होती है न कि भिन्नता । यह विरुद्ध हेत्वाभासके भीतर भी शामिल किया जा सकता है ॥ अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कर देना **प्रतिज्ञा संन्यास**[1] है " मैंने ऐसा कब कहा ? " इत्यादि ।

हेतुके खण्डित हो जानेपर उसमें कुछ जोड़ देना **हेत्वन्तर**[2] है । जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि इन्द्रियका विषय है । यहां घटत्वमें दोष आया, तो हेतुको बढ़ा दिया कि सामान्यवाला होकर जो इद्रियका विषय हो, । घटत्व खुद सामान्य तो है परन्तु सामान्यवाला नहीं है । अगर इसतरह हेतुमें मनमानी वृद्धि होती रहे तो व्यभिचारी हेतुमें भी व्यभिचार दोष न दिखलाया जा सकेगा । ज्योंही व्यभिचार दिखलाया गया कि एक विशेषण जोड़ दिया जाया करेगा ।

प्रकृतविषय (जिस विषयपर शास्त्रार्थ हो रहा है) से सम्बन्ध न रखनेवाली बात करना **अर्थान्तर**[3] है । जैसे वादीने कोई हेतु दिया और उसका खण्डन न हो सका तो कहने लगे ' हेतु किस भाषाका शब्द है किस धातुसे निकला है ? इत्यादि ।

अर्थरहित शब्दोंका उच्चारण करने लगना **निरर्थक** है । जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि क ख ग घ ङ है । जैसे च छ ज झ ञ आदि ।

ऐसे शब्दोंका प्रयोग करना कि तीन तीन बार कहनेपर भी जिनका अर्थ, न तो प्रतिवादी समझे, न कोई सभासद समझे उसे

---

१ पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासन्यासः ।

२ अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।

३ प्रकृतप्रमेयानुपयोगिवचनमर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानम् ।

अविज्ञातार्थ कहते हैं । जैसे—जङ्गलके राजाके आकार वालेके खाद्यके शत्रुका शत्रु यहां है । जङ्गलका राजा शेर, उसके आकार वाला बिलाव, उसका खाद्य मूषक, उसका शत्रु सर्प, उसका शत्रु मोर ।

पूर्वापरसम्बन्धको छोड़कर अंड बंड बकना **अपार्थक** है । जैसे—कलकत्तेमें पानी बरसा, कौओंके दांत नहीं होते, बम्बई बड़ा शहर है, यहां दश वृक्ष लगे हैं, मेरा कोट बिगड़ गया इत्यादि । इसे एक तरह का निरर्थक ही समझना चाहिये ।

प्रतिज्ञा आदिका बेसिलसिले प्रयोग करना **अप्राप्तकाल**[1] है । इसे निग्रहस्थान कहना अनुचित है । क्योंकि पहिले, हेतुको कहकर यदि किसीने प्रतिज्ञा पीछे कही, तो इससे उसकी हार नहीं मानी जा सकती ॥ अनुवादके सिवाय शब्द और अर्थका फिर कहना **पुनरुक्त**[2] है । इसे भी निग्रहस्थान न मानना चाहिये क्योंकि शब्द की पुनरुक्ति तो यमक[3] अलंकारमें भी होती है, इससे किसीका पराजय मानना व्यर्थ है । अर्थकी पुनरुक्ति, कहने भरका दोष है इससे पराजय नहीं हो सकता 'शब्द नित्य है' यह कह कर अगर किसीने 'अनित्य नहीं है' इतना और कह दिया तो उसका पराजय क्यों हो गया ? ॥

---

१ अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालं ।

२ शब्दार्थयोर्पुनर्वचनम् पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।

३ एक सरीखा शब्द वार वार आवे और अर्थ जुदा जुदा हो उसे यमक अलंकार कहते हैं । जैसे—भजन कह्यो तासों भज्यो भज्यो न एको वार । दूर भजन जासों कह्यो सो तैं भज्यो गमार ॥ यहां 'भज्यो' और भजन शब्द अनेक वार आया है लेकिन इनके अर्थ जुदे जुदे हैं भजना और भागना ।

वादीने तीन वार कहा, परिषद्ने भी समझ लिया, लेकिन प्रतिवादी उसका अनुवाद न कर पाया इसे **अननुभाषण** कहते हैं। वादीके वक्तव्यको सभा समझ गई किन्तु प्रतिवादी न समझा तो **अज्ञान** निग्रहस्थान है। इस दोनोंमें बहुत कम भेद है। उत्तर न सूझना **अप्रतिभा** है इसे अलग निग्रहस्थान समझना अनुचित है। क्योंकि बहुतसे निग्रहस्थान उत्तर न सूझनेसे ही होते हैं, फिर इसमें विशेषता कुछ नहीं है।

विपक्षी निग्रहस्थानमें पड़ गया हो फिर भी यह न कहना कि तुम्हारा निग्रह हो गया है, यह **पर्यनुयोज्योपेक्षण** है। इस निग्रहस्थानसे पराजय मानना अनुचित है, क्योंकि इस उपेक्षासे विपक्षीके पक्षकी सिद्धि या अपने पक्षकी असिद्धि नहीं होती।

निग्रहस्थान में न पड़ा हो फिर भी उसका निग्रह बतलाना **निरनुयोज्यानुयोग** है।

अपने पक्षको कमजोर देखकर बातको उड़ा देना **विक्षेप** है। जैसे—अभी मुझे यह काम करना है फिर देखा जायगा आदि। किसी आकस्मिक घटनासे अगर विक्षेप हो तो निग्रहस्थान नहीं माना जाता।

अपने पक्षमें दोष स्वीकार करके परपक्षमें भी वही दोष बतलाना **मतानुज्ञा** है। जैसे—अगर हमारे पक्षमें यह दोष है तो आपके पक्षमें भी है। इससे पराजय मानना अनुचित है क्योंकि पराजय तो तब हो, जब कि अपने पक्षमें दोष तो स्वीकार करले किन्तु परपक्षमें दोष सिद्ध न कर सके। अगर कोई कहे कि तुम (प्रतिवादी) चोर हो क्योंकि पुरुष हो। इसके उत्तरमें अगर

प्रतिवादी कहे कि अगर पुरुष होनेसे मैं चोर हूं तो तुम भी चोर हो । यहां प्रतिवादीका निग्रह मानना अनुचित है ॥

पांच अंगों (प्रतिज्ञा आदि) से कमका प्रयोग करना **न्यून** है और दो दो तीन तीन हेतु दृष्टान्त आदि देना **अधिक** है । इन्हें निग्रहस्थान मानना बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि प्रतिज्ञा और हेतुसे ही काम चल सकता है इसलिये अगर उदाहरण उपनय निगमन का प्रयोग न भी किया जाय तो पराजय नहीं माना जा सकता । अधिक होनेसे भी कुछ नुकसान नहीं है क्योंकि इससे वक्तव्य, दृढ़ और स्पष्ट होता है । इससे पराजित होनेका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।

स्वीकृत सिद्धान्तके विरुद्ध बात कहना **अपसिद्धान्त**[1] है । जैसे—सत्का उत्पाद नहीं, असत्का विनाश नहीं, यह मानकरके भी आत्माका नाश कहना ॥ **हेत्वाभासोंका** कथन पहिले हो चुका है ।

छल जाति और निग्रहस्थानों का प्रयोग न करना चाहिये । फिर भी इनके प्रयोग मात्रसे पराजय मानना अनुचित है । प्रयोग करनेवालेका विरोधी, जबतक अपने पक्षका मंडन और परपक्षका खण्डन न कर सके तब तक उसे विजयी नहीं कह सकते ।

पंचम अध्याय ।

नय ।

वस्तुके किसी एक धर्मको जाननेवाले—विषय करनेवाले—ज्ञानको नय[2] कहते हैं । जब हम किसी मनुष्यको देखते हैं तो

---

१ स्वीकृतागमविरुद्धप्रसाधनमपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानम् ।

२ ‘ वस्तुन्यनेकात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः ’ सर्वार्थसिद्धि ।

हमें ज्ञान होता है कि यह मनुष्य है, उससमय हमें उसके किसी एक धर्मसे मतलव नहीं रहता, यह प्रमाण है । किन्तु जब हम उसमें अंश कल्पना करने लगते हैं । जैसे—यह अमुकका पिता है अमुकका पुत्र है आदि—तव वह ज्ञान नय कहलाने लगता है । मतलव यह कि प्रमाण, वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय, उसके अंशोंको । प्रमाण तो सब इन्द्रियोंसे हो सकता है लेकिन नय, मनकेद्वारा ही होता है । जब तक हम वस्तुके जाननेके लिये नयका उपयोग न करेंगे तवतक हमें वस्तुका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होगा ।

प्रश्न—नय प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उससे जुदा क्यों कहा? यदि अप्रमाण है तो मिथ्याज्ञान कहलाया । वस्तुके ठीक ठीक जाननेके लिये मिथ्याज्ञान की क्या उपयोगिता है?

उत्तर—नय, न तो प्रमाण है, न अप्रमाण है, किन्तु प्रमाणका एक अंश है । जैसे—एक सिपाहीको सेना नहीं कह सकते और न सेनाके वाहर ही कह सकते हैं किन्तु सेनाका एक अंश कह सकते हैं । उसीतरह नयको प्रमाणका एक अंश कहे सकते हैं ।

---

१ सकलादेशःप्रमाणाधीनःविकलादेशो नयाधीनः ।

२ स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत् । स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः । नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः । नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥ तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता । समुद्रबहुत्वं (ता) वा स्यात्तच्चेत्का (क्वा) स्तु समुद्रवित् ॥ श्लोकवार्तिक ।
" नयभी वस्तुका निश्चय करानेवाला है इसलिये उसे प्रमाण मानना चाहिये " यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नयके द्वारा वस्तुका नहीं, उसके एक अंशका ही निर्णय होता है । नयका विषय, न तो वस्तु है

प्रश्न—यदि नय, वस्तुके एकही धर्मको ग्रहण करते हैं तब तो उन्हें मिथ्याज्ञान ही कहना चाहिये। अनेकधर्मात्मक वस्तुको एकधर्मात्मक ग्रहण करना मिथ्याज्ञान नहीं, तो क्या है? व्यवहारमें भी ऐसे अधूरे ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते हैं। जैसे—अगर किसी जगह दस आदमी बैठे हों और कोई कहे कि वहाँ एक आदमी बैठा है तो इसे झूठी बात कहेंगे। यद्यपि दसके भीतर एक शामिल है इसलिये वहाँ एक आदमी भी जरूर है। फिरभी दसको एक समझना मिथ्याज्ञान ही माना जाता है।

उत्तर—एक अंशका जो ज्ञान, बाकी अंशोंका निषेधक हो जाता है वह मिथ्याज्ञान कहा जासकता है। लेकिन जो अंश-ज्ञान बाकी अंशोंका निषेधक नहीं होता, उसे मिथ्याज्ञान नहीं कह सकते। जहाँ दस आदमी बैठे हैं वहाँ पर यह कहनेसे, कि एक आदमी है—यह जाहिर होता है कि बाकीके नव नहीं है, इसलिये यह मिथ्याज्ञान है। लेकिन नयसे दूसरे अंशोंका निषेध नहीं होता इसलिये उसे मिथ्याज्ञान नहीं कह सकते। जो नय[1] दूसरे अंशोंका निषेध करते हैं उन्हें **नयाभास** या **मिथ्यानय** कहते हैं।

" जितने तरहके वचन हैं उतने ही तरहके नय[2] हैं " इससे दो बातें मालूम होती हैं। पहिली यह कि नयके अगणित भेद हैं,

---

न वस्तुके बाहर, किन्तु वस्तुका अंश है। जैसे—समुद्रका बिन्दु, न तो समुद्रही है न समुद्रके बाहर है, किन्तु समुद्रका एक अंश है। अगर एक बिन्दुको ही समुद्र मान लिया जाय तो बाकीके बिन्दु, समुद्रके बाहर होजावेंगे; अथवा प्रत्येक बिन्दु एक एक समुद्र कहलाने लगेगा, इसलिये एकही समुद्रमें करोड़ों समुद्रोंका व्यवहार होने लगेगा।

१ ' निरपेक्षाः नयाः मिथ्या सापेक्षाः वस्तु तेऽर्थकृत् ' आप्तमीमांसा।

२ यावन्तो वचनविकल्पास्तावन्तो नयाः।

दूसरी यह कि नयका वचनके साथ बहुत कुछ सम्बन्ध है। यदि वचनके साथ नयका सम्बन्ध है तो उपचारसे नय, वचनात्मक भी कहा जासकता है अर्थात् प्रत्येक नय, वचनों द्वारा प्रगट किया जासकता है इसलिये वचन को भी नय कहते हैं। इसतरह प्रत्येक नय दोतरहका[1] है भाव नय, और द्रव्यनय। ज्ञानात्मक नयको भाव-नय और वचनात्मक नयको द्रव्यनय कहते हैं।

नयके मूलमें दो भेद हैं–निश्चय और व्यवहार। व्यवहार नय को उपनय[2] भी कहते हैं। जो वस्तुके असली स्वरूपको बतलाता है उसे निश्चय नय कहते हैं। जो दूसरे पदार्थके निमित्तसे अन्यरूप बतलाया है उसे व्यवहार नय या उपनय कहते हैं।

प्रश्न—जब व्यवहार नय वस्तुके स्वरूपको अन्यरूप बतलाता है तब उसे मिथ्यानय ही समझना चाहिये, फिर यहां उसके कहने की क्या जरूरत है?

उत्तर—व्यवहार नय, मिथ्या नहीं है। क्योंकि जिस अपेक्षासे जिस रूपमें वह वस्तुको विषय करता है उस रूपमें वस्तु पायी जाती है। जैसे–हम कहते हैं 'घीका घड़ा' इस वाक्यसे वस्तुके असली स्वरूपका ज्ञान तो नहीं होता अर्थात् यह तो नहीं माल्म होता कि घड़ा मिट्टीका है या पीतलका है या टीनका है? इसलिये

---

१ किसी किसीने नयके विषयको भी नय कहा है, इसलिये प्रत्येक नय तीन तरहका हो जाता है। सोच्चिय इक्को धम्मो वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स। तं जाणदि जं णाणं तं तिण्णि वि णय विसेसाय॥ वस्तुका एक धर्म, धर्मका वाचक शब्द, और उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान, ये तीनों ही नय हैं।

२ नयानां समीपा उपनयाः।

इसे निश्चय नय नहीं कह सकते, लेकिन इससे इतना अवश्य मालूम होता है कि उस घड़ेमें घी रक्खा जाता है। जिसमें घी रक्खा जाता हो ऐसे घड़ेको व्यवहारमें 'घीका घड़ा' कहते हैं। इसलिये यह बात व्यवहारसे सत्य है और इसीसे व्यवहार नय भी सत्य है। हां! व्यवहार नय मिथ्या तभी कहा जा सकता है जब कि उसका विषय, निश्चयका विषय मान लिया जाय अर्थात् कोई मनुष्य 'घीके घड़े' का अर्थ 'घीसे बनाया हुआ घड़ा' समझे। जबतक व्यवहार नय अपने व्यावहारिक सत्यपर कायम है तबतक उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

निश्चय नयके दो भेद हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्य अर्थात् सामान्यको विषय करनेवाला नय **द्रव्यार्थिक** नय कहा जाता है। पर्याय अर्थात् विशेषको विषय करनेवाला नय **पर्यायार्थिक** नय कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं, नैगम, संग्रह, व्यवहार और पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

नैगम—संकल्पमात्रको विषय करनेवाला नय, नैगम[1] नय कहलाता है। निगम[2] शब्दका अर्थ है संकल्प, जो निगम=संकल्पको विषय करे वह नैगम[3] नय कहा जाता है। जैसे—कौन जा रहा है? मैं जा रहा हूं। यहाँ पर कोई जा नहीं रहा है किन्तु जानेका

१ 'तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः' श्लोकवार्तिक।

२ 'संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयम् तत्प्रयोजनः' श्लोकवार्तिक।

३ इस नयका विषय अनेक शब्दोंमें बतलाया गया है। तत्त्वार्थभाष्य और सिद्धसेन गणीकी टीकामें इस विषयमें लिखा है "निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमाः=लौकिकाः अर्थाः, तेषु निगमेषु

सिर्फ संकल्प किया है इसलिये नैगम नय की अपेक्षासे कह दिया कि मैं जारहा हूं । इसके तीन भेद हैं—भूत नैगम, भावि नैगम, वर्तमान नैगम । अतीत (भूत) में वर्तमानका संकल्प करना **भूत नैगम** है । जैसे—आजके दिन ही महावीर स्वामी

भवो योऽध्यवसायः ज्ञानाख्यः स नैगमः" "यथा लोको व्यवहरति तथानेन व्यवहर्तव्यम् लोकश्चोपदिष्टैः प्रकारैः समस्तैर्व्यवहरति" "निगमेषु= जनपदेषु, ये=इत्यक्षरात्मकानां ध्वनीनां सामान्यनिर्देशः, अभिहिता= उच्चारिताः, शब्दाः, घटादयः, तेषामर्थो=जलधारणादिसमर्थः" "अस्य चार्थस्य अयं वाचक इति यदेवंविधमध्यवसायान्तरं स नैगमः" यहां निगम शब्दके दो अर्थ किये गये हैं—शब्दोंके लौकिक अर्थ और देशनगर आदि । इन सब उद्धरणोंका तात्पर्य यह है कि शब्दोंके जितने और जैसे अर्थ, लोकमें माने जाते हैं उनको माननेकी दृष्टि नैगम नय है । इस दृष्टिसे यह आगेके सभी नयोंसे अधिक विषयवाला सिद्ध हो जाता है । श्लोकवार्तिकमें भी दूसरे शब्दोंमें इसका स्वरूप लिखा गया है—यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः । धर्मयोर्धर्मिणो वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः ॥ प्रमाणात्मक एवायमुभयग्राहकत्वतः । इत्ययुक्तं इह ज्ञप्तेः प्रधान-गुणभावतः ॥ प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्णद्धि वेदनम् । प्रमाणं नान्य-दित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥ धर्मिधर्मसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः । प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ॥ तात्पर्य यह कि नैगमनय, धर्म और धर्मीको ग्रहण करनेवाला है । यहां प्रश्न यह होता है कि नैगम नय, दोनोंको विषय करनेसे प्रमाण कहलाने लगेगा तो इसका उत्तर यह है कि—प्रमाण तो धर्म और धर्मी दोनोंको मुख्य रूपसे ग्रहण करता है और नैगमनय, दोनोंमेंसे किसी एकको मुख्य करके और दूसरेको गौण करके ग्रहण करता है । इस अपेक्षासे नैगम नयके तीन भेद किये जाते हैं । द्रव्यनैगम, पर्यायनैगम, द्रव्यपर्यायनैगम । इन तीनोंके भी नव भेद हो गये हैं । इन सबका स्वरूप श्लोकवार्तिकमें देखना चाहिये ।

मोक्ष गये थे । 'आज' का अर्थ है वर्तमान दिवस, लेकिन उसका संकल्प हजारों वर्ष पहिले के दिन (दीपमालिका दिवस) में किया गया है; इसलिये यह भूत नैगम कहलाता है । भविष्यमें भूतका संकल्प करना **भावि नैगम** है । जैसे—अरहन्त, (जीवन-मुक्त) सिद्ध (मुक्त) ही हैं । कोई कार्य शुरु कर दिया गया, और वह पूर्ण न हुआ हो फिर भी 'पूर्ण हुआ' कहना **वर्तमान नैगम** है । जैसे रसोईके प्रारम्भमें ही कहना कि आज तो भात बनाया है ।

एक शव्दके द्वारा अनेक पदार्थोंका ग्रहण करना **संग्रह[1] नय** है । जैसे जीवके कहनेसे सभी त्रस स्थावर आदिका ग्रहण करना । इसके दो भेद हैं—सामान्य (पर) संग्रह, विशेष (अपर) संग्रह । सब द्रव्योंको ग्रहण करनेवाला **सामान्य संग्रह** है जैसे—द्रव्यके कहनेसे जीव और अजीव सभीका संग्रह हो गया । कुछ द्रव्योंको संग्रह करनेवाले नयको **विशेष संग्रह** कहते हैं । जैसे—जीवके कहनेसे सब जीव द्रव्योंका संग्रह तो हुआ परन्तु अजीव रहगया इसलिये यह विशेष संग्रह कहलाया ।

संग्रह नयसे ग्रहणकियेगये पदार्थका योग्य रीतिसे विभाग करनेवाला **व्यवहार[2]** नय है । इसके दो भेद हैं सामान्यभेदक, विशेषभेदक । सामान्य संग्रहमें भेद करनेवाला **सामान्यभेदक**

---

१ एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो नयः । सजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन ।

२ संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः । योवहारो विभागः स्याद्व्यवहारो नयः स्मृतः । व्यवहार शव्दका यहां उपचार अर्थ नहीं है किन्तु विभाजित करना अर्थ है—भेदरूपतया व्यवह्रियते इति व्यवहारः ।

व्यवहार है । जैसे—द्रव्यके दो भेद हैं जीव और अजीव । विशेष संग्रहमें भेद करनेवाला **विशेषभेदक व्यवहार** है । जैसे—जीवके दो भेद हैं संसारी और मुक्त ।

वर्तमान पर्याय मात्रको विषय करनेवाला **ऋजुसूत्र नय** है । इसके भी दो भेद हैं । सूक्ष्म ऋजुसूत्र, स्थूल ऋजुसूत्र, । जो एक समय[1] मात्रकी वर्तमान पर्यायको ग्रहण करे उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र कहते हैं जैसे शब्द क्षणिक है । अनेक समयकी वर्तमान पर्यायको जो ग्रहण करता है उसे स्थूल ऋजुसूत्र कहते हैं । जैसे—सौ वर्षकी मनुष्य पर्याय ।

यहां तक जो चार नय (नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र) कहे गये हैं वे **अर्थनय** कहलाते हैं । और आगे जो तीन नय कहे जायँगे वे **शब्दनय** कहलाते हैं । यद्यपि हम पहिले कह चुके हैं कि सभी नय ज्ञानात्मक और शब्दात्मक[2] होते हैं इसलिये सातों नय शब्दात्मक हैं लेकिन यहां शब्दका मतलब शब्दात्मकसे नहीं है इसलिये अर्थ नय और शब्द नय, ये भेद यहां बन सकते हैं । नैगम आदि चारों नय अर्थप्रधान हैं, क्योंकि इनमें शब्दके लिंग आदि बदलजाने परभी अर्थ में अन्तर नहीं आता, इसलिये ये अर्थ नय कहलाते हैं । और शब्द नयों (शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत) में शब्दोंके लिंग आदिके बदलनेसे अर्थ

---

१ कालके सबसे छोटे अंशको समय कहते हैं, एक मिनिटमें असंख्य समय होते हैं ।

२ सर्वे शब्दनयास्तेन परार्थप्रतिपादने । स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञान-नयाः स्थिताः । श्लो. वा. ।

बदल जाता है अर्थात् लोकमें प्रचलित साधारण अर्थमें कुछ परिवर्तन हो जाता है इससे ये शब्द नय कहलाते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि इन नयोंके द्वारा बतलाया गया अर्थ कभी काम में नहीं आता; विशेष अवसरों पर इन नयोंकी अपेक्षा भी व्यवहार किया जाता है। जैसा कि आगेके विवेचनसे मालूम होगा।

पर्यायवाची शब्दोंमें भी लिंग आदिके भेदसे अर्थभेद बतलाने वाला शब्द नय है। वास्तवमें शब्दमें कोई लिंग नहीं होता। मुँहसे निकला हुआ शब्द जड़ पदार्थ है उसे पुरुष, स्त्री, या नपुंसक नहीं कह सकते, फिर भी उसमें लिंगव्यवहार होता है। इसका कारण उसका अर्थ है। अर्थमें जैसा लिंग होता है या जिस लिंगके समान उसमें सदृशता होती है वही लिंग, शब्दका लिंग मान लिया जाता है। यह कहना कठिन है कि किस भाषामें किस शब्दका लिंग, अर्थकी किस समानताको लेकर किया जाता है। फिर भी शब्दके लिंगमें भेद होना, अर्थकी भिन्नतासे सम्बन्ध अवश्य[1] रखता है। किसी शब्दके अर्थमें कोमलता लघुता सुन्दरता निर्बलता आदि देखकर उसे स्त्रीलिंग कह दिया जाता है, इससे उल्टे धर्मोंको देखकर पुंल्लिंग कह दिया जाता[2] है। इन्हीं अनेक

---

१ जिस समय किसी शब्दका सबसे पहिले प्रचलित अर्थमें व्यवहार किया गया होगा उस समय लोगोंके हृदयमें क्या भावना थी जिससे प्रेरित होकर उनने उस शब्दको स्त्रीलिंग या पुल्लिंग आदि समझा, यह खोजका विषय है। हां! कुछ शब्दोंके विषयमें निश्चित रूपसे कहा जा सकता है। और इसी परसे बाकी शब्दोंका अनुमान किया जा सकता है।

२ जहां स्त्रीत्व और पुरुषत्वसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता वहां नपुंसक लिंग माना जाता है हिन्दी भाषामें इसका व्यवहार नहीं होता।

धर्मोंके कारण एक ही अर्थके वाचक शब्द, जुदी जुदी भाषाओंमें जुदे जुदे लिंगोंके कहे जाते हैं । इसीलिये शब्द नय कहता है कि जहां लिंग आदिका भेद है वहां अर्थमें भी अवश्य भेद है । जैसे पहाड़ पहाड़ी, नद नदी, आदि शब्दोंका अर्थ एकसा है फिर भी लिंगके भेदने कुछ अर्थभेद कर ही दिया है । छोटे पहाड़को पहाड़ी (पहड़िया), बड़ी नदीको नद कहते हैं । इससे माळूम होता है कि लिंगभेद, अर्थभेदमें कारण है । हां ! यह हो सकता है कि लिंगभेदसे होनेवाले अर्थभेदका व्यवहार लुप्त हो गया हो । उपमा रूपक आदिमें तो लिङ्गभेदकी उपयोगिता कुछ अधिक माळूम होने लगती है । जैसे—मुक्ति और मोक्ष पर्यायवाची शब्द हैं फिर भी जिस प्रकार ' मुक्तिवधूने वरलिया ' अच्छा माळूम होता है , उस प्रकार ' मोक्षवधूने वरलिया ' अच्छा नहीं माळूम होता । इसका कारण दोनों शब्दोंका लिंगभेद ही है । इसी प्रकार यह नय, संख्या आदिके भेदसे भी अर्थभेद मानता है ।

' जहां शब्दका भेद है वहां अर्थका भेद अवश्य है ' इस प्रकार बतलानेवाला **समभिरूढ नय**[1] है । शब्द नय तो अर्थभेद वहीं बतलाता है जहां लिंग आदिका भेद होता है । परन्तु इस नय की दृष्टिमें तो प्रत्येक शब्दका अर्थ जुदा जुदा है । भले ही वे शब्द, पर्यायवाची हों और उनमें लिंग संख्या आदिका भी भेद न हो । इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं फिर भी इनके अर्थमें अन्तर है । इन्द्र शब्दसे ऐश्वर्यवालेका बोध होता है और

---

१ पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नयः समभिरूढः स्यात्पूर्ववच्चास्य निश्चयः ॥ श्लो. वा.

पुरन्दरसे पुरों (नगरों) के नाश करनेवालेका। दोनोंका आधार एक ही व्यक्ति है इसलिये ये शब्द पर्यायवाची बन गये हैं किन्तु इनका अर्थ जुदा जुदा ही है। इसीतरह प्रत्येक शब्द मूलमें तो पृथक् अर्थका बतलानेवाला होता है, फिर कालान्तर में एकही व्यक्ति या समूह में प्रयुक्त होते होते पर्यायवाची बन जाता है। समभिरूढ़ नय उसके प्रचलित अर्थको नहीं, मूल अर्थको पकड़ता है यही इसकी विशेषता[2] है।

जिस शब्दका अर्थ जिस क्रियारूप हो उस क्रियामें लगे हुए पदार्थको ही उस शब्दका विषय करना **एवंभूतनय**[3] है। समभिरूढ़ नयसे प्रत्येक शब्दका जुदा जुदा अर्थ जाना जाता था, और शब्दके अर्थवाले पदार्थको हम जब चाहे उस शब्दसे कह सकते थे, लेकिन इस नयसे तो सिर्फ उसी समय कोई पदार्थ उस शब्दसे कहा जा सकता है जब कि वह अर्थके अनुसार क्रिया कररहा हो। जैसे पूजा करते समय ही किसीको पुजारी कहना। युद्ध करते समय ही सैनिक कहना। प्रत्येक शब्दका अर्थ किसी न किसी क्रिया का बतलानेवाला होता है। संस्कृत भाषाका व्याकरण तो इतना समृद्ध है कि उससे प्रत्येक शब्दकी उत्पत्ति किसी न किसी धातुसे सिद्ध कर दी गई है। अन्य भाषाओंमें भी अनेक शब्द किसी न किसी धातुसे सम्बन्ध रखने-

---

१ हिन्दू पुराणोंके अनुसार इन्द्रने एकवार नगर नष्ट किये थे॥

२ यूरोपके किसी महाकविने कहा है। संसार की किसी भी भाषामें ऐसा कोई भी शब्द नहीं है जिसका पर्यायवाची शब्द हो '॥

३ तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात्। एवंभूतेन नीयेत क्रियांतरपराङ्मुखः। श्लो. वा.॥

वाले सिद्ध किये गये हैं। फिर भी अनेक शब्दों की धातुओंका पता नहीं है, इसका कारण यही है कि हजारों वर्ष पहिलेका सारा इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है। वह बात बिलकुल ठीक है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी क्रियासे सम्बन्ध रखता है। समभिरूढ़ नय, एक समय, क्रिया देखकर सर्वदा उस शब्दका प्रयोग करेगा जब कि एवंभूतनय, जब तक क्रिया हो रही है तभी तक उस शब्दका प्रयोग करेगा। व्यवहार में इस नयका प्रयोग भी बहुत होता है। जबतक कोई राजकर्मचारी अपने काम (ड्यूटी) पर रहता है तबतक अगर उसके साथ कोई दुर्व्यवहार किया जाय तो राजा (गवर्नमेण्ट) उसका पक्ष लेता है, दूसरे समयमें साधारण प्रजाकी तरह उसका विचार किया जाता है। इसका कारण यह है कि राजा, एवंभूत नयसे अपने कर्मचारीके साथ व्यवहार करता है। इसी एवंभूत नयकी बदौलत ही कोई व्यक्ति, अपने व्यक्तित्वको अपने पदसे अलग करके बताता है। "मैं गवर्नरकी हैसियतसे नहीं, एक मित्रकी हैसियतसे मिलना चाहता हूं" "मैं राजा नहीं, अतिथि हूं" इत्यादि प्रयोगोंमें एवंभूत नयकी अपेक्षासे ही शब्दका अर्थ करना चाहिये।

इन सातों नयों में पहिले पहिलेके नय, बहुत या स्थूल विषयवाले हैं और आगे आगेके नय, अल्प या सूक्ष्म विषयवाले हैं। नैगम नयका विषय सत् और असत् दोनों ही पदार्थ हैं क्योंकि

---

१ जब महात्मा गांधी जी लंकाके गवर्नरसे मिले थे तब उनने कहा था कि मैं गवर्नरसे नहीं, अपने मित्रसे मिला था।

२ पूर्वपूर्वो नयो भूमाविषयः कारणात्मकः। परः परः पुनः सूक्ष्मगोचरो हेतुमानिह। श्लो. वा.।

सत् और असत् दोनों में संकल्प होता है। संग्रह नयमें सिर्फ सत् ही विषय किया जाता है। व्यवहार, संग्रहके टुकड़ोंको जानता है। व्यवहारसे ऋजुसूत्र पतला है क्योंकि ऋजुसूत्रमें सिर्फ वर्तमान कालकी पर्याय ही विषय होती है। ऋजुसूत्रसे शब्द नय पतला है क्योंकि ऋजुसूत्रमें तो लिंग आदिक का भेद होने पर भी अर्थ-भेद नहीं माना जाता, जब कि शब्दमें माना जाता है। शब्दसे समभिरूढ़, और समभिरूढ़से एवंभूत नयका विषय पतला है यह बात उन नयोंके विवेचनमें ही समझाकर कहदी गई है। व्यावहारिक दृष्टिसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका विवेचन किया गया। जहां दार्शनिक रीतिसे आत्माका विवेचन किया जाता है ऐसे अध्यात्म प्रकरणोंके लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का विवेचन कुछ दूसरे ढंगका है इसलिये इनके भेद भी दूसरे हैं। इस दृष्टिसे द्रव्यार्थिकके दस भेद हैं--कर्म आदिकी उपाधिसे अलग शुद्ध आत्माको विषयकरनेवाला **कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्ध द्रव्यार्थिक** नय है। जैसे--संसारी आत्मा, मुक्तात्माके समान शुद्ध

---

१ सन्मात्रविषयत्वेन संग्रहस्य न युज्यते । महाविषयताभावाभावार्थान्नैगमान्नयात् । श्लो. वा. ।

२ नर्जुसूत्रः प्रभूतार्थो वर्तमानार्थगोचरः । कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचराद्व्यवहारतः । श्लो. वा. ।

३ कालादिभेदतोऽप्यर्थमभिन्नमुपगच्छतः । नर्जुसूत्रान्महार्थोत्र शब्दस्तद्विपरीतवत् । श्लो. वा. ।

४ शब्दात्पर्यायभेदेनाभिन्नमर्थमभीप्सिनः । न स्यात्समभिरूढोपि महार्थस्तद्विपर्ययः ॥ क्रियाभेदेपि चाभिन्नमर्थमभ्युपगच्छतः । नैवंभूतः प्रभूतार्थो नयः समभिरूढतः । श्लो. वा. ।

है । उत्पाद (नवीन पर्यायका पैदा होना) व्यय (पर्यायका नाश) को छोड़कर सत्तामात्रको विषय करनेवाला **सत्ताग्राहकशुद्ध द्रव्यार्थिक** नय है । जैसे—जीव नित्य है । भेद विकल्पों की अपेक्षा न करके अभेद मात्रको विषय करनेवाला **भेदविकल्पनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक** है । जैसे—गुण पर्याय (अवस्था) से द्रव्य अभिन्न है । कर्मोंकी उपाधि सहित द्रव्यको ग्रहण करनेवाला **कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक** है । जैसे—क्रोध, आत्माका स्वभाव है । द्रव्यको उत्पाद व्यय सहित ग्रहण करनेवाला **उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक** है । जैसे—द्रव्य प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्यसहित[1] है । भेदकी अपेक्षा रखने

---

१ जैन दर्शनमें प्रत्येक द्रव्य, प्रति समय उत्पादव्ययध्रौव्यरूप है । अर्थात उसमें प्रतिसमय एक नई अवस्था पैदा होती है और पुरानी अवस्था नष्ट होती है, फिर भी द्रव्य, ध्रुव (नित्य) है । जिस प्रकार एक कोष (बैंक) में प्रतिदिन आमदनी और खर्च होता है फिर भी सिलक बनी रहती है उसी प्रकार द्रव्यमें भी उत्पाद (आमदनी) व्यय (खर्च) ध्रौव्य (सिलक) सदा होते हैं । एक मनुष्य बालकसे जवान हो जाता है तो उसमें बालकपनका व्यय और जवानीका उत्पाद है । किन्तु मनुष्यताकी दृष्टिसे वह कायम है, इसलिये उसमें ध्रौव्य भी है । इसीतरह प्रत्येक वस्तुमें समझना चाहिये । हां ! आकाश आदि अमूर्तिक और अतीन्द्रिय वस्तुओंमें उत्पाद व्यय नजर नहीं आता इसका कारण उन द्रव्योंकी सूक्ष्मता है । फिर भी हम अनुमानसे उनके उत्पाद व्ययको भी जान सकते हैं—प्रत्येक द्रव्यका कुछ काम अवश्य रहता है जैसे आकाशका काम जगह देना या कालका काम परिवर्तन कराना है । जगह लेने देनेमें या बाहिरी परिवर्तन करनेमें जब बाह्य पदार्थोंमें परिणमन होता है तब इन निमित्त द्रव्यों (काल आकाश

वाला **भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक** नय है। जैसे—ज्ञान दर्शन आदि, जीवके गुण हैं। जीवसे ज्ञानदर्शन पृथक् नहीं हैं किन्तु गुणगुणीका भेद मानकर यहां व्याख्यान किया गया है। गुणपर्यायोंमें द्रव्यकी अनुवृत्ति बतलाने वाला **अन्वय द्रव्यार्थिक** है। जैसे—द्रव्य, गुणपर्यायरूप है। जो स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभाव की अपेक्षासे द्रव्यको सत् रूप ग्रहण करता है उसे **स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक** कहते हैं। जैसे—स्वचतुष्टय (स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव) की अपेक्षा द्रव्य है। परचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्यको असत् रूप ग्रहण करनेवाला **परद्रव्यादिकग्राहक द्रव्यार्थिक** है। जैसे परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नहीं है। जो परम (मुख्य) भावको ग्रहणकरनेवाला नय है उसे **परमभावग्राहक** द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे—आत्मा, ज्ञानस्वरूप है।

इसी आध्यात्मिक कथनकी अपेक्षासे पर्यायार्थिक नयके छः भेद हैं। स्थूलताकी दृष्टिसे अनादि नित्यपर्यायको ग्रहण करनेवाला **अनादिनित्यपर्यायार्थिक** नय है। जैसे मेरुपर्याय नित्य है।

आदि) में भी परिवर्तन अनिवार्य है। कार्यके भेदसे कारणमें भेद, कार्यके परिणमनसे कारणमें परिणमन मानना ही चाहिये। यह हो नहीं सकता कि कुम्हारके चक्रपर मिट्टी तो नाना आकार धारण करके घड़ा बन जाय और कुम्हार में या उसके हाथोंमें कुछ भी क्रिया न हो। इसलिये जब काल द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्योंमें परिवर्तन होगा, तब कुछ न कुछ काल द्रव्यमें भी होगा। परिवर्तन, उत्पाद व्ययके विना हो नहीं सकता, क्योंकि एक अवस्थाका जाना (व्यय) और दूसरी अवस्थाका आना (उत्पाद) ही परिवर्तन कहलाता है इसलिये प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिवर्तनशील और नित्य, अर्थात् उत्पाद-व्ययध्रौव्यसहित है।

स्थूलताकी दृष्टिसे सादि नित्य पर्यायको ग्रहण करनेवाला **सादि-नित्यपर्यायार्थिक** नय है । जैसे—मुक्तपर्याय नित्य है । सत्ताको गौण करके सिर्फ उत्पादव्ययको विषय करनेवाला **अनित्यशुद्ध पर्यायार्थिक** नय है । जैसे—प्रत्येक पर्याय प्रतिसमय विनश्वर है । जो उत्पादव्ययके साथ प्रतिसमय, पर्यायमें ध्रौव्यभी ग्रहण करे उसे **अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय** कहते हैं । जैसे—पर्याय एक समयमें उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है । जो संसारी जीवोंकी पर्यायको कर्मकी उपाधिरहित देखे उसे **कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक** नय कहते हैं । जैसे—संसारी जीवोंकी पर्याय मुक्त-सदृश शुद्ध है । कर्मकी उपाधिसहित संसारी जीवोंको ग्रहण करने-वाला **कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय** है । जैसे—संसारी जीव, मरता और जन्मलेता है । इस तरह द्रव्यार्थिकके १०, पर्यायार्थिकके ६, नैगमके ३, संग्रहके २, व्यवहारके २, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, कुल मिलाकर निश्चयनयके २८ भेद हुए ।

प्रश्न—निश्चय नयके द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक, ऐसे दो ही भेद आपने बतलाये किन्तु गुणार्थिक नय क्यों नहीं बतलाया?

उत्तर—विशेषको विषय करना पर्यायार्थिक नयका काम है । विशेषके दो भेद हैं सहभावी विशेष, क्रमभावी विशेष । गुण, सहभावी विशेष है क्योंकि यह सदैव द्रव्यके साथ रहता है कभी नष्ट नहीं होता । पर्याय, क्रमभावी विशेष है क्योंकि पर्यायें, क्रमसे होती हैं । ये दोनोंही विशेष पर्यायार्थिकनयके विषय हैं । इसलिये

---

१ गुणःपर्याय एवात्र सहभावी विशेषतः । इति तद्गोचरो नान्यस्तृतीयोऽस्ति गुणार्थिकः ।

गुण (सहभावी विशेष) को विषय करनेवाले गुणार्थिक नयकी क्या आवश्यकता है?

उपनय अर्थात् व्यवहार नयके तीन भेद हैं। सद्भूत, असद्भूत और उपचरित। अभिन्न वस्तुको भेदरूपसे विषय करनेवाला सद्भूत व्यवहारनय है। जैसे आत्मा और ज्ञान जुदे जुदे हैं। इसके दो भेद हैं—शुद्ध गुणगुणी या शुद्ध पर्यायपर्यायीको विषय करनेवाला **शुद्धसद्भूत व्यवहार** और अशुद्ध गुणगुणी या अशुद्ध पर्यायपर्यायीको विषय करनेवाला **अशुद्धसद्भूतव्यवहार**।

मिलीहुई भिन्न वस्तुओं या भिन्न धर्मोंको एकरूप विषय करनेवाला **असद्भूत व्यवहारनय** है। वह स्वजाति, विजाति, स्वजाति-विजाति, इसतरह तीन प्रकारका है। परमाणुको बहुप्रदेशी समझना **स्वजात्यसद्भूत व्यवहार** है। संसारी सुखको मूर्तिक समझना **विजात्यसद्भूत व्यवहार** है जीव और अजीव दोनों ही ज्ञानके विषय हैं इसलिये दोनोंको ज्ञानरूप विषय करना **स्वजातिविजात्य सद्भूत व्यवहार** नय[1] है।

बिलकुल भिन्न (नहीं मिली हुई) वस्तुओंको किसी प्रयोजन (व्यवहारसिद्धि आदि) या निमित्तको देखकर अभेदरूपसे ग्रहण करना उपचरित व्यवहारनय[2] है। इसके भी स्वजाति, विजाति, स्वजातिविजाति ऐसे तीन भेद हैं। 'यह मेरा मित्र है' इस

---

१ इनमेंसे प्रत्येकके नव नव भेद होते हैं। (१) द्रव्यमें द्रव्यका आरोप, (२) द्रव्यमें गुणका आरोप, (३) द्रव्यमें पर्यायका आरोप। इसी प्रकार गुणमें तीनों आरोप और पर्यायमें तीनों आरोप, इसतरह नव हुए। प्रत्येकके नव नव, इसतरह असद्भूत व्यवहारके कुल २७ भेद हुए।

२ मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।

दृष्टान्तमें मित्र सजातीय है क्योंकि मैं भी जीव हूं मेरा मित्रभी जीव है। इसलिये यह **सजाति उपचरित व्यवहारनय** कहलाया। यह मकान मेरा है यह **विजाति उपचरित व्यवहार** है। यह देश मेरा है यह **मिश्र (सजातिविजाति) उपचरित व्यवहार** नय कहलाया। क्योंकि देशमें जीव और अजीव दोनोंका समावेश होता है।

अध्यात्म प्रकरणोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका विवेचन कैसा होता है यह बात हम कह चुके हैं। यहांपर अध्यात्म प्रकरणोंके अनुसार निश्चय व्यवहार और उसके भेद प्रभेदोंका निरूपण किया जाता है।

नयके मूलभेद दो हैं। निश्चय और व्यवहार। अभेदरूप विषय करनेवाला **निश्चय** और भेदरूप विषय करनेवाला **व्यवहार** है। निश्चयके दो भेद हैं। शुद्ध गुणगुणीको (जैसे जीव और केवल ज्ञान) अभेदरूप विषय करनेवाला शुद्ध (निरुपाधिक) निश्चयनय और अशुद्ध गुणगुणी (जैसे जीव और रागद्वेष) को विषय करनेवाला अशुद्ध (सोपाधिक) निश्चयनय है।

व्यवहार नयके भी दो भेद हैं। सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। एक वस्तुमें भेद विषय करनेवाला **सद्भूतव्यवहारनय** है। इसके भी दो भेद हैं उपचरित सद्भूत व्यवहार, अनुपचरित सद्भूत व्यवहार। सोपाधिक गुणगुणीमें भेद ग्रहण करनेवाला **उपचरित सद्भूत** और निरुपाधिक गुणगुणीमें भेद ग्रहण करनेवाला **अनुपचरित सद्भूत** व्यवहार है।

भिन्न वस्तुओंमें सम्बन्धको विषय करनेवाला **असद्भूत व्यवहार नय** है। इसकेभी दो भेद हैं। उपचरित असद्भूत व्यवहार और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार। संश्लेषरहित वस्तुमें सम्बन्धको

विषय करनेवाला **उपचरित असद्भूत** है। जैसे—धनधान्यादिक मेरा है। संश्लेष सहित वस्तुमें सम्बन्धको विषय करनेवाला **अनुपचरित असद्भूत** व्यवहार है। जैसे—मेरा शरीर। यद्यपि आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न हैं परन्तु एक स्थानपर दोनों रहती हैं इसलिये इनका संश्लेष है।

अध्यात्म शास्त्रकी दृष्टिसे संक्षेपमें कहे गये ये छः भेद पहिले बतलाये गये नयोंके भेदोंमें शामिल हो जाते हैं। जैसे—शुद्ध निश्चयनय, भेदविकल्पनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकमें; अशुद्धनिश्चयनय, कर्मोपाधिसापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिकमें; उपचरित सद्भूत व्यवहारनय, अशुद्धसद्भूतव्यवहारमें; अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय, शुद्धसद्भूत व्यवहारमें; उपचरित और अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय, उपचरितव्यहारनयमें शामिल हैं।

नयोंके सैकडों भेद होते हैं। जितने तरहके वचन या वचनके अभिप्राय हैं, उतनेही तरहके नय हैं। किसी तरहका प्रयोग करते समय इतना स्मरण रखना चाहिये कि वस्तु ऐसी ही नहीं है। दूसरी दृष्टिसे दूसरे तरहकी भी है।

नयरहस्यको समझनेवाला मनुष्य, उदार और विचारसहिष्णु होता है। साधारणतः मनुष्य अपनेही ज्ञानको सच्चा समझता है। ऐसी हालतमें एक तरहकी सर्वज्ञम्मन्यता उसके भीतर छिपी रहती है। ऐसा आदमी वह महामूर्ख है जिसे अपनी मूर्खता (अज्ञान) का भी पता नहीं है। नयदृष्टि, उसके इस अज्ञानको दूर कर देती है। उसे विविध मतों (विचारों) में समन्वय करनेकी योग्यता प्राप्त होजाती है। वह उदार, सहिष्णु, जिज्ञासु और सत्यपथका पथिक होता है।

छठवां अध्याय ।

निक्षेप ।

निक्षेप शब्दका अर्थ है रखना, आरोप करना[1] । शब्दका अर्थमें अथवा अर्थका शब्दमें जिस तरह आरोप किया जाता है, उसे **निक्षेप** कहते हैं । अथवा पदार्थकी संज्ञा[2] (नाम) रखना **निक्षेप** है । प्रत्येक शब्दके कमसे कम कितने अर्थ होसकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर हमें निक्षेपसे ही मिलता है । किसी शब्दके भलेही सैकडों अर्थ किये जावें अर्थात् सैकडों अर्थोंमें उसका निक्षेप किया जाय, किन्तु उनके, नाम स्थापना द्रव्य और भावके द्वारा अर्थ अवश्य होंगे । ये ही चार निक्षेप हैं ।

प्रश्न—नय और निक्षेपमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—नय, ज्ञानात्मक है उसके द्वारा वस्तुका ज्ञान होता है । इसलिये पदार्थके साथ उसका विषयविषयी सम्बन्ध है । शब्द और अर्थका वाच्यवाचक सम्बन्ध है । इस वच्यवाचक सम्बन्धके स्थापनकी क्रिया निक्षेप है । यह वाच्यवाचक सम्बन्ध और उसकी क्रिया नयसे जानी जाती है इसलिये निक्षेप भी नयका विषय है । तात्पर्य यह कि नय और निक्षेपमें विषयविषयिभाव है ।

निक्षेपके चार भेद हैं । नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । लोक-व्यवहार चलानेके लिये किसी दूसरे निमित्तकी अपेक्षा न रखकर किसी पदार्थकी कोई संज्ञा रखना **नामनिक्षेप**[3] है । नाम निक्षेपमें

---

१ न्यसनं, न्यसतः इति वा न्यासो निक्षेपः इत्यर्थः । राजवार्तिक ।

२ निक्षेपविधिना नामशब्दार्थः प्रस्तीर्यते, सर्वार्थसिद्धि ।

३ संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव, निमित्तान्तरमिष्टितः । नामानेकविधं लोक-व्यवहाराय सूत्रितं । श्लोकवार्तिक ॥

सिर्फ वक्ताका अभिप्रायही निमित्त है । जाति (सादृश्य) आदि निमित्त नहीं [1]हैं । जैसे किसी पुरुषका नाम महावीर है । यह नाम, गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता । लोकव्यवहार चलानेकेलिये प्रत्येक मनुष्यका कुछ न कुछ नाम रखना चाहिये, इसलिये एक आदमीका महावीर नाम रखदिया गया । ऐसे नामसे वीरताका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

प्रश्न—अगर किसी ऐसे पुरुषका नाम महावीर रक्खा जाय जिसमें कि वीरता आदि गुण हों तो क्या उसके नाममें भी नाम-निक्षेप माना जायगा ?

उत्तर—वस्तुमें गुण भले ही हों, परन्तु जबतक गुण की अपेक्षासे शब्दव्यवहार न किया जाय, तब तक नामनिक्षेप ही माना जाता है । अगर 'महावीर' नाम, गुणकी अपेक्षासे ही रक्खा जाय तो विशेषवीरतावाले सभी व्यक्तियोंका नाम महावीर रखना पड़ेगा । ऐसी हालतमें नामनिक्षेपकी उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी । 'महावीर तो सच्चे महावीर थे, इस वाक्यमें पहिला महावीर शब्द, नाम निक्षेपकी अपेक्षासे है और दूसरा महावीर शब्द, भावनिक्षेपकी अपेक्षासे, क्योंकि पहिले महावीर शब्दसे किसी व्यक्तिका बोध होता है । जब कि दूसरे से किसी गुणीका ।

किसी वस्तुमें किसी अन्य वस्तुकी स्थापना करके उसी शब्दसे कहने लगना **स्थापना निक्षेप** है । जैसे—पत्थर में किसी देवकी स्थापना करके देव शब्दसे कहने लगते हैं । अथवा जैसे—शतरंज की गोटोंमें राजा वजीर आदिकी स्थापना की जाती है । स्थापनाके

---

१ नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समं । तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते । श्लो. वा. ॥

दो भेद हैं । तदाकार (तद्भाव) स्थापना और अतदाकार (अतद्भाव) स्थापना । स्थाप्य (जिसकी स्थापना की जाय) के मुख्याकारकी समानतावाली वस्तुमें स्थापना करना **तदाकार स्थापना** है । जिससे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान होकर स्थाप्यके आकारका प्रतिभास हो । मुख्याकारकी सदृशतारहित जिस किसी आकारकी वस्तुमें स्थापना करना **अतदाकार स्थापना**[1] है । मूर्ति चित्र आदिमें तदाकार स्थापना कीजाती है । नाटक आदिके पात्रोंमें भी तदाकार स्थापना की-जाती है । यद्यपि स्थाप्यके आकार की पूर्ण सदृशता नहीं आसकती फिरभी नाममात्रकी सदृशतासे भी तदाकार स्थापना मानी जाती है । इसलिये वेडौल मूर्तियोंमें की गई स्थापना भी तदाकार स्थापना है । शतरंजकी गोटोंमें जो वादशाह वजीर आदि की स्थापना की जाती है वह अतदाकार स्थापना है ।

प्रश्न—नाम और स्थापना निक्षेपमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—नाम निक्षेपमें नामके अनुसार आदर अनादर बुद्धि नहीं होती, लेकिन स्थापना निक्षेपमें आदर अनादर बुद्धि होती है । महावीरनामधारीका हम महावीरके समान आदर नहीं करते, किंतु महावीर की मूर्तिका वैसा आदर[2] करते हैं ।

प्रश्न—कोई कोई मनुष्य, नाममें भी आदर अनादर बुद्धि करते हैं । और कई लोग (मूर्तिपूजाके विरोधी आदि) स्थापनामें भी आदर-अनादरबुद्धि नहीं करते, फिर दोनोंका अन्तर कैसे समझा जाय ?

---

१ मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना । परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति सम्प्रत्ययात् । श्लो. वा. ।

२ सादरानुग्रहाकांक्षाहेतुत्वात्प्रतिभिद्यते । नाम्नस्तस्य तथाभावाभावाद्त्राविवादतः ॥ श्लो. वा. ॥

उत्तर—कई भोले लोग अपने देवतामें अधिक भक्ति होनेसे उसके नामवाले प्रत्येक मनुष्यमें उस देवताकी शीघ्र स्थापना करलेते हैं। इसका कारण नाम नहीं है, किन्तु नामको देखकर कीगई स्थापना है। यह स्थापना बहुत शीघ्र की जाती है, दोनोंका अवलम्बन भी एक व्यक्ति होता है, स्थापनाका निमित्त भी नाम बन जाता हैं, इसलिये स्थापनामें नामका भ्रम हो जाता है। वास्तवमें दोनोंमें अन्तर है। मूर्तिपूजाका विरोधी हो या अविरोधी, उसे भी स्थापनामें आदर अनादर बुद्धि करना पड़ती है। यह बात दूसरी है कि मूर्तिपूजाका विरोधी मूर्तिमें स्थापना ही न करे। जो स्थापना ही नहीं करता वह आदर अनादर बुद्धि क्यों करेगा? हां! अगर वह स्थापना करे तो आदरअनादरबुद्धि भी करेगा। मूर्तिपूजाका विरोधी भी पांच रुपयेके नोटको पांच रुपयेके समान आदरणीय समझता है। जो किसी एक जगह स्थापना नहीं मानना चाहता वह वहां न माने, परन्तु इससे स्थापनाका समस्त व्यवहार नष्ट नहीं हो जाता।

प्रश्न—स्थापना, नामवाले पदार्थकी कीजाती है और नामका व्यवहार तो चारों निक्षेपोंसे होता है इसलिये किसनामवाले पदार्थकी स्थापना करना चाहिये?

उत्तर—चारों तरहके नामोंसे स्थापनाका सम्बन्ध है। महावीर राम कृष्ण आदिकी मूर्तियोंमें जो स्थापनाकी जाती है वह नामनिक्षेपसे रक्खेगये नामवाले व्यक्तियोंकी स्थापना है। पार्श्वनाथकी मूर्तिके चित्रमें पार्श्वनाथकी स्थापना करना, स्थापना निक्षेपसे

---

१ नाम्नि कस्यचिदादरदर्शनान्न ततस्तद्भेदः इतिचेन्न, स्वदेवतायामतिभक्तितस्तन्नामकेऽर्थे तदध्यारोपस्याशुवृत्तेस्तत्स्थापनायामेवादरावतारात्।

रक्खेगये नामवाली वस्तुकी स्थापना है। पार्श्वनाथ की मूर्तिको स्थापनानिक्षेपसे पार्श्वनाथ कहते हैं, उस मूर्तिकी स्थापनासे मूर्तिके चित्रको भी पार्श्वनाथ कहने लगे। द्रव्यनिक्षेपसे युवराजको भी राजा कहते हैं। यदि उस युवराजकी मूर्तिको या चित्रको भी राजा कह दिया जाय तो द्रव्यनिक्षेपसे रक्खे गये नामवाले व्यक्तिकी स्थापना कहलायगी। भावनिक्षेपसे राजाको ही राजा कहते हैं। उसकी स्थापना, भावनिक्षेपसे रक्खेगये नामवाले व्यक्तिकी स्थापना कहलायगी। मतलब यह कि किसी भी निक्षेपसे किसी पदार्थकी संज्ञा रक्खी जाय, उसकी स्थापना हो सकती है।

भूत और भविष्यत अवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले नामका प्रयोग, वर्तमानमें करना **द्रव्यनिक्षेप** है। जैसे—राजपुत्रको राजा कहना, अथवा राज्यके छूट जानेपर भी राजा कहना।

इस निक्षेपका विषय बहुत विस्तीर्ण है। जैसे—लोग युवराजको राजा कहते हैं उसीतरह युवराज और राजाके मरजानेपर उसके मृतक शरीरको भी राजा कहते हैं। कभी कभी ज्ञानको भी राजा कह देते हैं। जैसे—'राजा तो इसके हृदयमें बसा है'। हृदयमें तो राजाका ज्ञान बसा है न कि राजा, लेकिन द्रव्यनिक्षेपसे ज्ञानको राजा कह दिया। इसीतरह अन्यपदार्थोंमें द्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा शब्दव्यवहार होता है। इन सब प्रभेदोंको अन्तर्गत करनेके लिये द्रव्यनिक्षेपके दो भेद किये गये हैं। आगम द्रव्यनिक्षेप और नो-आगम द्रव्यनिक्षेप।

किसी वस्तुके जाननेवालेको उस शब्दसे कहना आगमनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेपका सम्बन्ध भूत भविष्यतसे है। इसलिये अगर

उस जाननेवालेका उपयोग उस वस्तुमें न होगा तो **आगम द्रव्यनिक्षेप** कहलायगा । क्योंकि उपयोग होनेसे वर्तमानता आजाती है, इसलिये वह भावनिक्षेप हो जाता है। यद्यपि यह निक्षेप, ज्ञानमें किया जाता है, परन्तु ज्ञानी (आत्मा) को छोड़कर ज्ञानमें व्यवहार करना कठिन है इसलिये ज्ञानका व्यवहार ज्ञानीमें किया जाता है और वस्तुज्ञाताको भी उसी वस्तुके नामसे कहते हैं।

ज्ञान (ज्ञाता) को छोड़कर किसी वस्तुकी पूर्वोत्तर अवस्था या उससे सम्बन्ध रखनेवाली किसी अन्यवस्तुको उस वस्तुके नामसे कहना **नोआगमद्रव्यनिक्षेप** है। इसके तीन भेद हैं—ज्ञायक-शरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त । आगम द्रव्यनिक्षेपसे, वस्तुके ज्ञाताको वस्तुके नामसे कहा था; ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यनिक्षेपसे वस्तु ज्ञाताके शरीरको उस वस्तुके नामसे कहते हैं। जैसे—किसी राजनीति विशारद मनुष्यके मृतशरीरको जलानेपर कहना आज राजनीति जलगई। इस वाक्यमें राजनीतिज्ञके मृतक शरीरको राजनीति नाम दिया गया है।

ज्ञायकशरीरके तीन भेद हैं। भूत, भविष्यत, वर्तमान। वर्तमान ज्ञायकशरीरका उदाहरण ऊपर दिया गया है । भूतभविष्यतका

---

१ आत्मा तत्प्राभृतज्ञायी यो नामानुपयुक्तधीः । सोत्रागमः समाम्नातः स्याद्द्रव्यं लक्षणान्वयात् । श्लो. वा. ।

२ तत्त्वमसि (तू ब्रह्म है) अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं) इत्यादि वाक्योंका अर्थ अगर आगमद्रव्यनिक्षेप या आगमभावनिक्षेप की अपेक्षासे किया जाय तो अद्वैतके माननेकी जरूरत नहीं रहती, और इन वाक्योंका अर्थ ठीक वैठ जाता है ।

३ भूत शरीरके तीन भेद किये गये हैं—त्यक्त, च्युत, च्यावित । शरीर छूटनेके पहिले खुद हीं शरीरको त्याग देने अर्थात् ममत्व छोड़कर संन्यास

सम्बन्ध परलोकसे है। ज्ञाता अमर है उसका सम्बन्ध अनेक शरीरोंसे होता है इसलिये ज्ञायकशरीरके तीन भेद किये गये हैं। यद्यपि वर्तमानका सम्बन्ध भावनिक्षेपसे है लेकिन वर्तमान ज्ञायकशरीरमें ज्ञाताका ज्ञानोपयोग वर्तमान नहीं है इसलिये यहां द्रव्यनिक्षेप ही माना गया।

वस्तुके उपादान कारणको वस्तुके नामसे कहना **भाविनोआगम द्रव्यनिक्षेप** है। इसमें वस्तुके ज्ञाताका शरीर नहीं, किन्तु वस्तुका उपादान पकड़ा जाता है। जैसे—राजाका उपादान युवराज है।

वस्तुसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य किसी पदार्थको उस वस्तुके नामसे कहना **तद्व्यतिरिक्तनोआगम द्रव्यनिक्षेप**[१] है। जैसे—राजाके शरीर (मृत या जीवित) को राजा कहना।

प्रश्न—यह भेद ज्ञायकशरीरमें ही शामिल क्यों न किया जावे।

उत्तर—ज्ञायकशरीरसे ज्ञाताका शरीर विवक्षित है, इसलिये ज्ञायकशरीर निक्षेपसे राजाके ज्ञाताका शरीर राजा कहा जाता है और तद्व्यतिरिक्तसे स्वयं राजाका शरीर राजा कहा जाता है।

प्रश्न—इस (तद्व्यतिरिक्त) निक्षेपसे घट किसे कहेंगे क्योंकि घटके शरीर होता नहीं है।

उत्तर—घटके अन्य निमित्त कारण या सम्बन्धीको। जैसे—कोई कुम्हार कहे कि यहां घड़ा नहीं है और इसके उत्तरमें कहा जाय

धारण करनेके बाद छूटनेवाला शरीर त्यक्त है। समयपर आयु पूर्ण होनेसे जो शरीर छूटता है उसे च्युत कहते हैं। विषभक्षणादिके द्वारा अकाल मृत्युसे जो शरीर छूटता है उसे च्यावित कहते हैं।

१ जीवद्रव्यमें जब यह निक्षेप लगाया जाता है तब तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हो जाते हैं कर्म और नोकर्म।

कि तुम्हीं तो घट हो । यहां घटका निमित्त कारण कुम्हार है इसलिये उसे ही घट कह दिया । इसीतरह दंड चक्र आदि को भी घट कह सकते हैं ।

प्रश्न—क्या द्रव्यनिक्षेपके सभी भेद सभी शब्दोंके साथ लग सकते हैं ?

उत्तर—जीव पुद्गल आकाश आदि द्रव्यवाची शब्दोंके साथ भाविनोआगम भेद नहीं लग सकता । क्योंकि ये अनादि अनन्त हैं । भाविनोआगम निक्षेप, उपादान कारणमें किया जाता है । जो अनादि है उसका उपादान कारण क्या? हां! मनुष्य आदि जीवकी विशेष अवस्थाओंमें यह लग सकता है । क्योंकि मनुष्य आदि अवस्थाएँ अनादि नहीं हैं ।

प्रश्न—द्रव्यनिक्षेपको स्थापनानिक्षेपके अन्तर्गत क्यों न माना जाय? क्योंकि जैसे स्थापनानिक्षेपमें एक वस्तुकी स्थापना अन्यत्र की जाती है, उसीतरह द्रव्यनिक्षेपमें भी राजाकी स्थापना युवराजमें, या शरीरमें, या उसके ज्ञानीमें, या ज्ञानीके शरीरमें, या अन्य कारणोंमें कीजाती है ।

उत्तर—जिस वस्तुकी जिसमें स्थापना कीजाती है उन दोनोंमें भेद रहता है, किन्तु द्रव्यनिक्षेपमें अभेद है । महावीरकी मूर्ति और महावीर दो भिन्न वस्तुएँ हैं, किन्तु राजा और युवराजमें अभेद है । युवराज राजा बननेवाला है इसलिये उसे राजा कहा गया है ।

प्रश्न—नोआगमभाविद्रव्यनिक्षेप जहां किया गया है वहां अभेद कहना ठीक है, किन्तु ज्ञायकशरीर तद्व्यतिरिक्त और आगमद्रव्यनिक्षेपमें तो अभेद नहीं है । इसलिये इन्हें तो स्थापनाके अन्तर्गत मानना चाहिये ।

उत्तर—कार्यकारणसम्बन्ध, विषयविषयीभाव, तथा अन्य एकदेशावस्थान (एक जगहमें रहना) आदि निमित्त पाकर व्यवहार नयसे भिन्न वस्तुओंमें भी अभेद माना जाता है। इसलिये ज्ञायकशरीर आदिमें भी अभेद माना गया।

प्रश्न—व्यवहारकी अपेक्षा अभेद तो महावीर और महावीरकी मूर्तिमें भी है। इसीलिये लोग मूर्तिको भी महावीरके समान पूजते हैं।

उत्तर—स्थापना निक्षेपमें अभिन्नता कार्य है। अर्थात् दोनों वस्तुओंमें अभिन्नता स्वतः नहीं थी स्थापनासे मानी गई है। किन्तु जहांपर द्रव्यनिक्षेप है वहां तो अभिन्नता पहिलेसे ही मौजूद है अर्थात् दोनों वस्तुओंमें स्वतः अभिन्नता है। वह अभिन्नता द्रव्यनिक्षेपमें कारण है। वहां स्थापनासे अभेद है, यहां अभेदसे द्रव्यनिक्षेप है। यह, दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है।

वर्तमान पर्यायके अनुसार शब्दका प्रयोग करना **भावनिक्षेप** है। जैसे—राज्य करनेवालेको राजा कहना। इसके भी दो भेद हैं—आगम भावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेप। किसी वस्तुके जाननेवालेको उस वस्तुमें उपयोग रखते समय उस वस्तुके नामसे कहना **आगमभावनिक्षेप** है[1]। द्रव्यनिक्षेपके निरूपणमें आगम नोआगमका खुलासा किया गया है। आगमद्रव्यनिक्षेप और आगमभावनिक्षेपमें अन्तर सिर्फ इतना है कि आगमद्रव्यनिक्षेपमें वर्तमानमें उपयोग नहीं रहता और आगमभावनिक्षेपमें रहता है।

वर्तमानपर्यायवाली वस्तुको उस शब्दसे कहना **नोआगमभाव निक्षेप** है[2]। जैसे राज्य करनेवालेको राजा कहना।

---

१ साम्प्रतो वस्तुपर्यायो भावो द्वेधा स पूर्ववत्। आगमः प्राभृतज्ञायी पुमांस्तत्रोपयुक्तधीः ॥ श्लो. वा. ॥

२ नोआगमः पुनर्भावो वस्तु तत्पर्ययात्मकम् ॥ श्लो. वा. ॥

प्रश्न—नामनिक्षेप और भावनिक्षेपमें क्या अन्तर है? यदि किसी मनुष्यका नाम हाथीसिंह रखदेना नामनिक्षेप है तो सूंड़-वाले किसी जानवरका नाम हाथी रख देना नामनिक्षेप क्यों नहीं? जैसे नामनिक्षेपमें लोगोंकी इच्छा ही कारण है उसी प्रकार भावनिक्षेपमें भी है। लोगोंकी इच्छा हुई इसलिये सूंड़वाले जानवरको हाथी कहने लगे, अगर उनकी इच्छा हो तो घोड़ा भी कह सकते हैं। जब शब्दोंका अर्थ लोगोंकी इच्छाके आधीन है तब भावविक्षेपसे नामनिक्षेपमें अन्तर क्या रह जाता है?

उत्तर—नामनिक्षेपका सम्बन्ध व्यक्तिवाचक संज्ञाओंसे हैं, जब कि भावनिक्षेपका सम्बन्ध, भाववाचक और जातिवाचक संज्ञाओंसे। व्यक्तिवाचक संज्ञाओंसे हम किसी समान धर्मवाली वस्तुका ज्ञान नहीं करते जब कि जातिवाचक संज्ञाओंका अर्थ समान धर्मोंपर ही निर्भर है। सूंड़, बड़े कान, स्थूल शरीर आदि अनेक साधारण चिन्हवाला, हाथी शब्दका अर्थ है परन्तु लक्ष्मी, रमा, उमा आदि शब्दोंसे जिस अर्थका ज्ञान होता है उसे असाधारण (एक ही व्यक्तिमें रहनेवाले) चिन्होंसे ही पहचान सकते हैं। नाम (संज्ञा) रखनेसे ही नामनिक्षेप नहीं हो जाता है। नाम तो चारों निक्षेपोंसे रक्खा जाता है। यह बात हम पहिले भी कह चुके हैं।

प्रश्न—द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षेपके भी ज्ञायक शरीर आदि अनेक भेद क्यों नहीं किये गये?

उत्तर—भावनिक्षेपका सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान पर्यायसे है। इसलिये भूत भविष्यसे उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। द्रव्यनिक्षे-पका सम्बन्ध द्रव्य अर्थात् अन्वयसे है। वहां कार्य कारण आदिकी अभिन्नता विवक्षित है। भावनिक्षेपका सम्बन्ध भाव अर्थात् पर्याय

अर्थात् व्यतिरेक से है । इसलिये कार्य कारण और सहचर आदि की अभिन्नताके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिससे शरीरं आदिक, भावनिक्षेपके भेदोंमें शामिल हो सकें ।

इन प्रश्नोत्तरोंसे निक्षेपका बहुत कुछ खुलासा हो गया है। हम पहिले कह चुके हैं कि ये निक्षेप, नयके विषय हैं । यहां हम इस बातको स्पष्ट करदेना चाहते हैं कि कौनसा निक्षेप किस नयका विषय है ।

आदिके तीन निक्षेप, द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं । और भाव-निक्षेप, पर्यायार्थिक नयका विषय है । द्रव्यार्थिक नयका विषय है द्रव्य अर्थात् अन्वय। यह अन्वय, नाम स्थापना द्रव्यमें पाया जाता है । क्योंकि इन निक्षेपोंका सम्बन्ध तीनों कालोंसे है। भावनिक्षेपका सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान कालसे है इसलिये उसमें अन्वय नहीं है। वर्तमान पर्यायके साथ सम्बन्ध होनेसे वह पर्यायार्थिक नयका विषय माना जाता है ।

सातवां अध्याय ।

सप्तभंगी ।

एक वस्तुमें अविरोधसे विधिप्रतिषेधकल्पना करना सप्तभंगी[3] है । इसमें सातभंग पाये जाते हैं । वे सातभंग ये हैं । १ अस्ति,

---

१ नामोक्तं स्थापना द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणात् । पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैर्न्यासः सम्यगीरितः ॥ श्लो. वा. ॥

२ नाम्नः कचिद्बालाद्यवस्थाभिन्नेपि विच्छेदानुपपत्तेरन्वयित्वसिद्धेः । क्षेत्रपालादिस्थापनायाश्च कालभेदेपि तथात्वाविच्छेद इत्यन्वयित्वमन्वयप्रत्य-यविषयत्वात् ।

३ एकस्मिन्वस्तुन्यवरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी ।

२ नास्ति, ३ अस्तिनास्ति, ४ अवक्तव्य, ५ अस्तिअवक्तव्य, ६ नास्तिअवक्तव्य, ७ अस्तिनास्तिअवक्तव्य । हिन्दी भाषामें इन सातों भंगोंके नाम ये हैं—

१ है । २ नहीं हैं । ३ है और नहीं है । ४ कहा नहीं जा सकता । ५ है फिरभी कहा नहीं जासकता । ६ नहीं है फिरभी कहा नहीं जासकता । ७ है और नहीं हैं फिरभी कहा नहीं जासकता ।

प्रत्येक विषयमें सात तरहके प्रश्न हो सकते हैं और उनका उत्तर उपर्युक्त सात तरहके वाक्योंद्वारा दिया जा सकता है ।

सप्तभंगीमें अविरोधसे विधि प्रतिषेधकी कल्पना की जाती है । जो लोग सप्तभंगी और अनेकान्तके वास्तविक रूपको नहीं समझ पाते उन्हें उपर्युक्त वाक्योंमें विरोध मालूम होता है । ऐसे लोगोंने इस अनेकान्तमें आठ तरहके दोषोंकी कल्पना की है । वे आठ दोष ये हैं । विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति, अभाव ।

जिसप्रकार शीत और उष्णस्पर्शमें परस्पर विरोध है उसीप्रकार विधि और प्रतिषेध=अस्ति और नास्ति=होने और न होनेंमें भी विरोध है । इसलिये ये सातों भंग परस्पर विरोधी हैं ।

जब अस्तित्व नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी हैं तब अस्तित्वका जो आधार है वह नास्तित्वका आधार नहीं हो सकता । इस तरह जुदा जुदा अधिकरण होनेसे वैयधिकरण दोष कहलाया ।

जैसे किसी वस्तुमें सात भंग लगाये जाते हैं वैसेही 'अस्ति'[१] भंगमें भी सात भंग लगाये जा सकते हैं, इस दूसरी सप्तभंगीमें जो

१ जो 'अस्ति' भंगमें लगायी गई है ।

अस्ति भंग आवेगा उसमें फिर सप्तभंगी लगाई जा सकती है इस तरह अनन्त सप्तभङ्गियाँ होजावेंगी । यह अनवस्था दोष हुआ ।

जब 'अस्ति' और 'नास्ति' एकही जगह रहेंगे तो जिस-रूपसे 'अस्ति' है उसी रूपसे 'नास्ति' भी होगा । इसतरह 'संकर[1]' दोष हुआ ।

जिस रूपसे 'अस्तित्व' है उस रूपसे 'नास्तित्व' होजायगा जिस रूपसे नास्तित्व है उस रूपसे अस्तित्व होजायगा, इससिये व्यतिकर दोष कहलायगा, क्योंकि विषयमें परस्पर अदलाबदली हो-जाना **व्यतिकर[2]** कहलाता है ।

संशयसे वस्तुका ज्ञान (प्रतिपात्ति) न होपायगा इसलिये अप्रतिपत्ति दोष कहलायगा ।

ज्ञानके द्वारा ही किसी वस्तुका सद्भाव माना जाता है, जब इनका ज्ञान ही नहीं हुआ तो अभाव होगया ।

अनेकान्तमें ये आठ दोष नहीं रहते हैं । इसलिये पहिले सप्त-भंगीका मूल, अनेकान्त समझलेना चाहिये ।

अनेकान्तका अर्थ है अनेक धर्म । प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म पाये जाते हैं, इसलिये वस्तु अनेकान्तात्मक मानी गई है । यदि चारों दिशाओंसे किसी मकानके चार फोटो लिये जाँय तो वे फोटो एकसे तो न होंगे फिरभी एक ही मकानके कहलाँयगे । इसी तरह अनेक दृष्टिओंसे वस्तुभी अनेक तरहकी माळूम होती है, इसीलिये हमारे प्रयोग नानातरहके होते हैं । एक ही आदमीके

---

१ सर्वेषाम् युगपत्प्राप्तिः संकरः ।

२ परस्परविषयगमनं व्यतिकरः ।

विषयमें हम कहते हैं यह वही आदमी है जिसे गतवर्ष देखा था, दूसरे समयमें कहते हैं यह वह नहीं रहा अब बड़ा विद्वान होगया है। पहिले वाक्यके प्रयोगके समय उसके मनुष्यत्वपर ही दृष्टि है दूसरे वाक्यके प्रयोगके समय उसकी मूर्ख विद्वान आदि अवस्थाओंपर, इसलिये परस्पर विरोधी माळूम होते हुए भी दोनों वाक्य सत्य हैं। आमके फलको हम कटहलकी अपेक्षा छोटा और बेर की अपेक्षा बड़ा कहते हैं इसपर कोई यह नहीं कह सकता कि एक ही फलको छोटा और बड़ा क्यों कहते हो? बस! यही बात अनेकान्तके विषयमें भी है। एक ही वस्तुको अपेक्षा-भेदसे " है " और " नहीं है " कह सकते हैं।

जो पुस्तक हमारे कमरेमें है वह पुस्तक हमारे कमरेके बाहर नहीं है। यहांपर 'है' और 'नहीं' में कुछ विरोध नहीं कहा जा सकता। यह अविरोध अनेकान्तदृष्टिका सुफल है। साधारण रीतिसे अनेकान्तको समझनेके बाद उपर्युक्त आठ दोषोंका अच्छी तरह निराकरण हो जाता है।

शीत और उष्णस्पर्शके समान अस्ति और नास्तिमें विरोध नहीं होसकता। क्योंकि विरोध तभी कहा जासकता है जब कि एकही कालमें एकही जगह ये दोनों धर्म एकत्रित होकर न रहे। लेकिन स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभाव) की अपेक्षा अस्तित्व, और परचतुष्टय (परद्रव्य परक्षेत्र परकाल और परभाव) की अपेक्षा नास्तित्व तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे एकही वस्तुमें सिद्ध हैं, फिर विरोध कैसा? किन दो धर्मोंमें विरोध है यह बात हम पहिलेसे नहीं जान सकते। जब हमें यह बात माळूम हो जाती है कि ये धर्म एक ही समयमें एक ही जगह नहीं रहसकते तब

हम उनमें विरोध मानते हैं । अगर वे एकत्रित होकर रह सकें तो विरोध कैसे कहाजासकता है ? स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति और स्वचतुष्टयकी अपेक्षा ही यदि नास्ति कहा जाय तो विरोध कहना ठीक है । लेकिन अपेक्षाभेदसे दोनोंमें विरोध नहीं कहा जा सकता ।

जब अस्तित्व नास्तित्व विरोधी नहीं रहे तो अस्तित्व और नास्तित्वका आधार भी जुदा जुदा नहीं रहा । इससे वैयधिकरण्य दोष भी नहीं कहा जा सकता ।

कल्पनाके अनन्त होनेसे ही अनवस्था दोष नहीं होता । अनवस्था दोष वहीं होता है जहां कल्पना अप्रामाणिक हो । प्रत्येक मनुष्य माता पितासे पैदा होता है इसलिये मातृपितृपरम्परा अनन्त है, किन्तु यहां अनवस्था दोष नहीं कहा जा सकता । क्योंकि मातृपितृपरम्परा प्रमाणसिद्ध है । इसीप्रकार सर्वत्र सप्तभंग भी प्रमाणसिद्ध हैं, इसलिये एक पदार्थमें अनन्त सप्तभंगी हो जानेपर भी प्रमाणसिद्ध होनेसे अनवस्था दोष नहीं होगा । दूसरी बात यह है कि धर्ममें धर्मकी कल्पना नहीं करना चाहिये । घटमें घटत्व धर्म है अब घटत्वमें घटत्वत्व धर्म मानकर और घटत्वत्वमें घटत्वत्वत्व मानकर अनन्त धर्मकी कल्पना कीजासकती है तो क्या अनवस्थाके डरसे घटत्व भी न माना जाय ? जैसे यहांपर धर्ममें धर्मकी कल्पना न करके अनवस्थासे बचते हैं उसीप्रकार अस्तित्वादिभंगोंमें भी अन्य अस्तित्वादिकी कल्पना न करके अनवस्थासे बच सकते हैं ।

जब अस्तित्व और नास्तित्व जुदे जुदे अविरुद्ध धर्म, सिद्ध होगये, तब जिस रूपसे अस्ति है उसी रूपसे नास्ति कहना अनुचित है, इसलिये संकर दोषभी न रहा । और, ' अस्ति ' को

' नास्ति ', और ' नास्ति ' को ' अस्ति ' नहीं कहा जासकता इसलिये व्यतिकर दोष भी नहीं रहा ।

जब एक जगह परस्पर विरुद्ध धर्मोंका अनिश्चित ज्ञान होता है तब संशय कहा जाता है । एक वस्तुमें अपेक्षा भेदसे अस्ति और नास्तिमें कुछ विरोध नहीं है, इसलिये इस जगह संशय पैदा नहीं हो सकता । दूसरी बात यह है कि संशयमें अनेक धर्मोंका अनिश्चिय रहता है, जब कि यहां निश्चय है । ' अस्ति है या नास्ति ' यह संशय है । अस्ति है और नास्ति भी है यह संशयका रूप नहीं है । इसमें तो दोनों धर्मोंका निश्चय है । जब संशय नहीं रहा तब अप्रतिपत्ति दोष (निश्चित ज्ञानका अभाव) भी नहीं रहा । अप्रतिपत्ति होनेसे अभाव कहा जाता था । अप्रतिपत्ति दोष न होनेसे अभाव दोष भी न रहा ।

स्वपरचतुष्टय—हमने कहा है कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है । यह चतुष्टय है द्रव्य क्षेत्र काल भाव । गुणोंके समूहको द्रव्य कहते है । जैसे ज्ञानादिक अनेक गुणोंका समूह ' जीव ' द्रव्य है । है । जीव, जीव द्रव्यके रूपसे ' है ' (अस्ति) जड़ द्रव्यके रूप से ' नहीं है ' (नास्ति) इसी प्रकार घड़ा, घड़ा रूपसे है कपड़ेके रूपसे नहीं है । हर एक वस्तु स्वद्रव्यरूपसे है परद्रव्यरूपसे नहीं है ।

द्रव्यके प्रदेशोंको (परमाणु बराबर उसके अंशोंको) क्षेत्र कहते हैं । घड़ेके अवयव, घड़ेका क्षेत्र हैं । यद्यपि व्यवहारमें आधारकी जगहको क्षेत्र कहते हैं किन्तु यह वास्तविक क्षेत्र नहीं है । जैसे—दावातमें स्याही है । यहांपर व्यवहारसे स्याहीका क्षेत्र दावात कहा जाता है । लेकिन वास्तवमें स्याही और दावातका क्षेत्र

जुदा-जुदा है। अगर दावात काच की है तो जिस जगह काच है उस जगह स्याही नहीं है और जिस जगह स्याही है उस जगह काच नहीं है। यद्यपि काचने स्याहीको चारों तरफसे घेर रक्खा है फिर भी दोनों अपनी अपनी जगहपर हैं। स्याहीके प्रदेश अवयव--हिस्से ही, उसका क्षेत्र है। जीव और आकाश एक ही जगह रहते हैं परन्तु दोनोंका क्षेत्र एक नहीं है। जीवके प्रदेश जीवका क्षेत्र है और आकाशके प्रदेश आकाशका क्षेत्र है। ये दोनों द्रव्य भी, क्षेत्रकी अपेक्षासे पृथक् पृथक् हैं। व्यवहार चलानेके लिये या साधारणबुद्धिके लोगोंको समझानेके लिये आधार को भी क्षेत्र कह देते हैं।

वस्तुके परिणमनको काल[1] कहते हैं। जिस द्रव्यका जो परिणमन है वही उसका काल है। प्रातः सन्ध्या आदि काल भी वस्तुओंके परिणमनरूप है। एक साथ अनेक वस्तुओंके अनेक परिणमन हो सकते हैं परन्तु उनका काल एक नहीं हो सकता। क्योंकि उनके परिणमन जुदे जुदे हैं। घड़ी घंटा मिनिट आदिमें भी कालका व्यवहार होता है। लेकिन यह 'स्वकाल' नहीं है। व्यवहार चलानेके लिये घड़ी घंटा आदिकी कल्पना की गई है।

वस्तुके गुण=शक्ति=परिणामको भाव[2] कहते हैं। प्रत्येक वस्तुका स्वभाव जुदा जुदा होता है। दूसरी वस्तुके स्वभावसे उसमें सदृशता होसकती है परन्तु एकता नहीं हो सकती। क्योंकि एक द्रव्यका गुण दूसरे द्रव्यमें नहीं पाया जाता।

---

१ कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन। पंचाध्यायी।

२ भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः। अथवा शक्ति-समूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात्। २७९। पंचाध्यायी।

इसप्रकार स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है। द्रव्य क्षेत्र काल भावका कथन, सरलतासे द्रव्यमें अस्तित्व नास्तित्व समझाने के लिये है। संक्षेपमें यही कहना चाहिये कि स्व-रूपसे वस्तु है और पर-रूपसे वस्तु नहीं है। स्व-रूपको स्वात्मा और पररूपको परात्मा शब्दसे भी कहते हैं।[1]

जब हमें वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षा होती है तब हम उसे 'अस्ति' कहते हैं जब पररूपकी अपेक्षा होती है तब 'नास्ति' कहते हैं। इसी प्रकार जब हमें स्वरूप और पररूप दोनोंकी अपेक्षा होती है तब 'अस्तिनास्ति' कहते हैं। यह तीसरा भंग हुआ।

किन्तु हम वस्तुके अस्तित्व और नास्तित्व एकही समयमें नहीं कहसकते। जब अस्तित्व कहते हैं तब नास्तित्व भंग रह जाता है। जब नास्तित्व कहते हैं तब अस्तित्व रहजाता है। इसलिये जब हम क्रमसे अस्ति और नास्ति कहना चाहते हैं तब तो 'अस्तिनास्ति' नामका तीसरा भंग बनता है किन्तु जब हम एक समयमें अस्ति और नास्ति कहना चाहते हैं। तब 'अवक्तव्य' (न कहने योग्य) नामका चौथा भंग बनता है। इस तरह 'क्रमशः स्वपररूप' की अपेक्षा 'अस्तिनास्ति' और 'युगपत् स्वपररूप' की अपेक्षा 'अवक्तव्य' भंग होता है।

जब हमारे कहनेका आशय यह होता है कि वस्तु, स्वरूपकी अपेक्षा अस्ति होनेपर भी अवक्तव्य है, पररूपकी अपेक्षा नास्ति होनेपर भी अवक्तव्य है, और क्रमशः स्वपररूपकी अपेक्षा अस्तिनास्ति होनेपर भी अवक्तव्य है तब तीन भंग और बनजाते हैं, अस्ति-अवक्तव्य नास्तिअवक्तव्य, अस्तिनास्ति अवक्तव्य।

१ तत्र स्वात्मना स्याद्घटः परात्मना स्यादघटः। राजवार्तिक।

मूल भंग अस्ति और नास्ति दो हैं । दोनोंकी युगपत् विवक्षासे अवक्तव्य नामका भंग और बनता है । और यह भी मूल भंगमें शामिल हो जाता है इनतीनोंके असंयोगी (आस्ति, नास्ति, अवक्तव्य) द्विसंयोगी (अस्तिनास्ति, अस्तिअवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य,) और त्रिसंयोगी (अस्तिनास्तिअवक्तव्य) भंग बनानेसे सात भंग हो जाते हैं ।

प्रश्न—मूल भंग जो अस्ति और नास्ति रक्खे गये हैं उनमेंसे अगर एक ही भंग रक्खा जावे तो क्या हानि है ? इससे अन्य पांच भंग भी न मानना पड़ेंगे ।

उत्तर—अगर सिर्फ 'अस्ति' भंग ही मानें तो जिसप्रकार वस्तु एक जगह 'अस्ति' रूप होगी उसीप्रकार सब जगह होगी । क्योंकि 'नास्ति' भंग तो है ही नहीं । ऐसी हालतमें हर एक चीज सब जगह पाईजानेसे व्यापक कहलावेगी । वालूका एक कण भी व्यापक मानना पड़ेगा । परमाणु भी व्यापक मानना पड़ेगा । अगर सिर्फ 'नास्ति' भंग ही माना जावे तो प्रत्येक वस्तु सब जगह 'नास्ति' रूप कहलावेगी । इसतरह प्रत्येक वस्तुका अभाव होजावेगा । ये दोनों बातें प्रमाणविरुद्ध हैं, क्योंकि न तो प्रत्येक वस्तु सर्वरूपसे 'अस्ति' है न उसका सर्वरूपसे अभाव है ।

प्रश्न—अस्ति भंगके साथ स्वचतुष्टय भी लगा हुआ है और नास्ति भंगके साथ परचतुष्टय लगा हुआ है । अस्तिके प्रयोगसे स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति समझाजायगा न कि सर्वत्र, इसीतरह नास्तिके कहनेसे परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति कहलायगा न कि सर्वत्र । इसलिये न तो प्रत्येक वस्तु व्यापक होगी, न अभावरूप होगी फिर एक ही भंगका प्रयोग क्यों न किया जाय ?

उत्तर—दोनों भंगोंसे जुदी जुदी तरहका ज्ञान होता है। एक भंगके प्रयोग करनेपर भी दूसरे भंगके द्वारा पैदा होनेवाला ज्ञान नहीं होता। जैसे—यदि कहा जाय कि अमुक आदमी वाजारमें नहीं है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अमुक जगह है। वाजारमें न होनेपर भी 'कहांपर है' यह जिज्ञासा वनी ही रहती है जिसकेलिये 'अस्ति' भंगकी जरूरत है। व्यवहारमें अस्ति भंगके प्रयोग होनेपर भी नास्ति भंगके प्रयोगकी आवश्यकता होती है। मेरे हाथमें रुपया है यह कहना एक वात है और तुम्हारे हाथमें रुपया नहीं है यह कहना दूसरी वात है। इस तरह दोनों भंगोंका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न—क्या अन्योन्याभावसे नास्ति भंगकी पूर्ति नहीं होती?

उत्तर—नहीं! क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी नियत अभावसे नहीं है। उत्पत्तिके पहिले वस्तुके अभावको **प्रागभाव** कहते हैं। नष्ट होजानेके बाद वस्तुके अभावको **प्रध्वंसाभाव** कहते हैं। एक वस्तुका दूसरी वस्तुरूप न होना अथवा जैनदर्शनके अनुसार पुद्गल की एक पर्यायका दूसरी पर्यायरूप न होना **अन्योन्याभाव** है। इसमें अनुयोगी की प्रधानता है। एकवस्तुमें दूसरी वस्तुका न रहना **अत्यन्ताभाव** है। इसमें प्रतियोगीकी प्रधानता है। जैनदर्शनके अनुसार यह अभाव नित्य है और न्यायदर्शनके अनुसार अनित्य भी। अन्योन्याभावको छोडकर बाकी तीन अभाव **संसर्गाभाव** हैं। नास्ति भंगका सम्बन्ध सभीसे है।

प्रश्न—खैर? दो भंगोंका प्रयोग भले ही आवश्यक रहे परन्तु तीसरे अस्तिनास्ति भंगका प्रयोग क्यों करना चाहिये? क्योंकि तीसरा भंग तो प्रारम्भके दो भंगोंमें शामिल है।

उत्तर—यद्यपि पहिले दो भंगोंको मिलकर तीसरा भंग बना है फिर भी उसका काम अस्ति और नास्ति इन भंगोंसे अलग है। जो काम अस्तिनास्ति (उभय) भंगने किया है वह न अकेला अस्ति कर सकता है न अकेला नास्ति। असंयुक्त उत्तर दूसरी बात है। यद्यपि एक और दो मिलकर तीन होते हैं फिर भी तीन की संख्या एक और दो से जुदी मानी जाती है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो दो 'अस्ति' और एक 'नास्ति' आदिके भी जुदे जुदे भंग मानना पड़ेंगे, इसलिये भंगोंकी संख्या बढ़ जावेगी।

उत्तर—यदि किसी वस्तुमें दो आस्तित्व पाये जाते, तो ऐसे भंग बनते। लेकिन प्रत्येक वस्तुमें एकही अस्तित्व पाया जाता है इसलिये सातसे अधिक भंग नहीं बन सकते। यदि अस्तित्व दो माने जावें तो स्वचतुष्टय भी और परचतुष्टय भी दो माने जावेंगे इसतरह दो सप्तभंगियाँ बनेंगीं। मतलब यह है कि एक एक धर्मके पीछे सप्तभंगी बनकर सैकड़ों सप्तभंगियाँ बन सकतीं हैं परन्तु सप्तभंगी की अष्टभंगी नवभंगी आदि नहीं बन सकती।

वस्तुके अनेक धर्मोंको हम एक साथ नहीं कहसकते इसलिये युगपत्स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। वस्तुके अवक्तव्य होनेका दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि वस्तुमें जितने धर्म हैं उतने शब्दही नहीं हो सकते और हम लोगोंके लिये उन धर्मोंका ज्ञानभी नहीं हो सकता जिससे उन सबको शब्दोंसे कहने की चेष्टा कीजाय। तीसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वभावसे अवक्तव्य है। वह अनुभवमें तो आसकती है परन्तु शब्दोंके द्वारा नहीं कही जा सकती। मीठापन कैसा होता होता है, इसका ठीक उत्तर अनुभव करनेसे मिलेगा नकि शब्दोंसे, इसलिये वस्तु अवक्तव्य

है, लेकिन अन्य दृष्टियोंसे वक्तव्य भी हैं । इसलिये जब हम अव-क्तव्यके साथ किसी रूपमें वस्तुकी वक्तव्यता भी कहना चाहते हैं तब वक्तव्य रूप तीनों भंग (अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति,) अव-क्तव्यके साथ मिल जाते हैं इसलिये अस्तिअवक्तव्य, नास्तिअव-क्तव्य, और अस्तिनास्तिअवक्तव्य इन भंगोंका प्रयोग होता है । इस तरह ये सात भंग हैं ।

यह सप्तभंगी दो तरह की होती है । प्रमाणसप्तभंगी और नय-सप्तभंगी । वस्तुको पूर्ण रूपसे विषयकरनेवाला प्रमाण है और अंश रूपसे विषयकरनेवाला नय है । यह बात पहिले भी कही जा चुकी है । वाक्योंके भी दो भेद होते हैं प्रमाणवाक्य और नयवाक्य । प्रमाणवाक्य और नय वाक्यका अन्तर हमें शब्दोंसे नहीं, भावोंसे मालूम होता है । जब हम किसी शब्दके द्वारा पूरी वस्तुको कहते हैं तब सकलादेश या प्रमाणवाक्य माना जाता है और जब शब्दके द्वारा वस्तुके किसी एक धर्मको कहते हैं तब विकलादेश या नय-वाक्य माना जाता है ।

प्रत्येक शब्दके द्वारा वस्तुका एक धर्म ही कहा जाता है । विद्युत् शब्दका अर्थ चमकनेवाला है । बिजली ज्यादः चमकती है इसलिये हम उसे विद्युत् कहते हैं । बिजली बहुत जल्दी चमक जाती है । अर्थात् वह चपल है इसलिये उसे चपला कहते हैं । यद्यपि ‘ विद्युत् ’ और ‘ चपला ’ शब्दसे एक एक धर्म ही कहा गया है परन्तु इन शब्दोंसे हम अनेकधर्मवाले एक धर्मीका बोध करते हैं । ‘ संसा-रका वैभव विद्युत्के समान क्षणिक है, इस वाक्यमें विद्युत्का प्रयोग सकलादेशसे किया गया है । क्योंकि यहांपर विद्युत् शब्दका अर्थ मेघोंमें जल्दीसे चमकनेवाली एक वस्तु है । न कि केवल चमकना ।

इसलिये क्षणिकताके लिये भी विद्युत् की उपमा दीगयी है । इसी तरह "चपलाकी चमक" आदिमें भी सकलादेश समझना चाहिये। क्योंकि चपला शब्दसे चपल ही नहीं; चमकदारका भी बोध किया गया है ।

जब शब्दोंके द्वारा धर्मका ही बोध किया जाय अर्थात् धर्मीकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) न हो तो विकलादेश कहलाता है। जैसे—विद्युत् शब्दसे चमकनेका ही बोध किया जाय, चपला शब्दसे चपलताका ही बोध किया जाय आदि। 'यह लड़की तो सचमुच चपला है' इस वाक्यमें चपला शब्द विकलादेश है । क्योंकि चपला शब्दका चपलता धर्मसे ही मतलब है।

इसीप्रकार जीव शब्दसे जानना देखना आदि अनेक धर्मोवाली वस्तुका बोध किया जाय तो सकलादेश, और सिर्फ 'जीवन' धर्मसे ही मतलब हो तो विकलादेश है । इसतरह अन्य शब्दोंका अर्थ भी समझना चाहिये। कोई कोई शब्द ऐसे होते हैं जिनका एक धर्म-रूप अर्थ हमें मालूम नहीं होता इसलिये उसका प्रयोग हम सकला-देश रूपमें करते रहते हैं किन्तु ऐसे शब्दोंका विकलादेश अर्थ हमें इसलिये नहीं मालूम होता कि वे आज हमारे साम्हने अपने मूल-रूपमें नहीं हैं। यह हमारे अज्ञानका फल है। वास्तवमें उनका भी विकलादेश वाक्य बनसकता है । अथवा शब्दका सम्बन्ध एक धर्मसे हो या न हो, जहां पर शब्दके द्वारा एक धर्म पकड़ते हैं। वहां विकलादेश है और जहां पूरी वस्तुको पकड़ते है वहां सकला-देश है। इसीलिये सप्तभंगीके दो भेद किये गये हैं । सकलादेशसप्तभंगी अर्थात् प्रमाणसप्तभंगी और विकलादेशसप्तभंगी अर्थात् नयसप्तभंगी।

प्रमाणवाक्यसे वस्तु अनेकान्तात्मक कही जाती है और नय-वाक्यसे एकान्तात्मक (एकधर्मात्मक) कही जाती है । इसलिये 'वस्तुको अनेकान्तात्मक ही मानना भी तो एकान्त कहलाया' इस बातका उत्तर इस वक्तव्यसे हो जाता है। क्योंकि वस्तु, प्रमाण-दृष्टिसे अनेकान्तात्मक और नयदृष्टिसे एकान्तात्मक है । सर्वथा अनेकान्तात्मक और सर्वथा एकान्तात्मक नहीं है । इसलिये प्रत्येक वाक्यके साथ 'कथंचित्' 'स्यात्' 'किसी अपेक्षासे' आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। कथंचित् आदि शब्दोंका उच्चारण भले ही न किया जाय किन्तु अभिप्रायमें ये शब्द रहना ही चाहिये। इसलिये 'अस्ति' 'नास्ति' आदि सातों भंग 'कथंचित् अस्ति' 'कथंचित् नास्ति' आदि समझना चाहिये ।

विना अनेकान्तके माने सांसारिक व्यवहार भी ठीक ठीक नहीं चलसकता । जैसे हम किसी व्यक्तिको 'पिता' कहते हैं लेकिन वह हमारी अपेक्षा पिता है दूसरे लोगोंकी अपेक्षा वह पुत्र भ्राता आदि भी हो सकता है। इसलिये हम उसे 'कथंचित् पिता' कह सकते हैं न कि सर्वथा पिता। एक आदमीका सबका पिता होना असम्भव है । इसीतरह जब हम किसी आमको छोटा कहते हैं, तब हम आमके उस परिमाण की अपेक्षा कहते हैं जो कि हमने मान रक्खा है अन्यथा बेरकी अपेक्षा तो हमें छोटे आमको भी बड़ा कहना पड़ेगा। मतलब यह है कि विना अपेक्षा लगाये हम अपना व्यवहार भी ठीक नहीं रख सकते।

प्रायः सभी दार्शनिकोंने इस अनेकान्तका सहारा लेकर अपने मतका प्रतिपादन किया है। जैसे सांख्य दर्शनमें प्रकृति एक

गई है इसलिये मूलमें प्रकृति और पुरुष दो तत्व रहते हैं । किन्तु भेद अपेक्षासे पच्चीस तत्त्व हैं । प्रकृतिसे तेईस तत्व और प्रगट होते हैं । अथवा सत्त्व, रज, तम, ये तीन भिन्न गुण हैं जिनका समुदायात्मक प्रधान (प्रकृति) एक है । अगर अपेक्षा भेद न माने तो एक कहकर तीन, या दो कहकर पच्चीस नहीं कह सकते ।

वैशेषिक लोग सत्ताकी अपेक्षा पृथिवीत्वको 'अपर' सामान्य, और घटत्व आदिकी अपेक्षा परसामान्य मानते हैं । अगर अनेकान्त न माने तो एक ही सामान्यको पर और अपर कैसे मान सकते हैं ? इसीतरह अन्य दार्शनिकोंने भी अनेकान्तरूप वस्तुका विवेचन किया है ।

जो लोग कहते हैं कि इस सरल वातको सप्तभंगी न्यायसे जटिल क्यों बनाया जाता है । इसका सरल उत्तर यह है कि हलकीसे हलकी वातपर भी जब विद्वान लोग गहरा विचार करते हैं तो वह जटिल हो जाती है । गाने बजानेका शौक सभीको होता है, हर एक आदमी इसका प्रयोग अपनी शक्तिके अनुसार करता है । लेकिन जब ताल स्वर और रागरागिनियोंके-भेद प्रभेदोंपर विचार किया गया तो एक जटिल शास्त्र बनगया । इसलिये सिर्फ अनेकान्तमें ही नहीं, सभी शास्त्रोंमें ऐसी जटिलता पैदा हुई है । इस जटिलतापूर्ण विवेचनके विना किसी वातका रहस्य नहीं माऌम हो सकता । और न विद्वानोंको परितोष होसकता है ।

---

१ महान्, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश ।